सामयिक वार्ता

जुलाई 2015 ❑ मूल्य: 20 रुपए

जातिवार जनगणना : अधूरी गिनती का जिम्मेदार कौन?

वैश्विक खनन : संपन्नता या लूट

- यूरोप को राह दिखाता कमजोर ग्रीस
- नये विधेयक गरीब विरोधी
- विदेश नीति का बंटाधार
- किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला

सुन्दर लोग

लाल्टू

एक

एक दिन हमारे बच्चे हमसे जानना चाहेंगे
हमने जो हत्याएँ कीं उनका खून वे कैसे धोएँ

हताश फाड़ेंगे वे किताबों के पन्ने
जहाँ भी उल्लेख होगा हमारा
रोने को नहीं होगा हमारा कन्धा उनके पास
कोई औचित्य नहीं समझा पाएँगे हम
हमारे बच्चे वे बदला लेने को ढूँढ़ेंगे हमें
पूछेंगे सपनो में हमें रोएँ तो कहाँ रोएँ

हर दिन वे जिएँगे स्मृतियों के बोझ से थके
रात जागेंगे दु:स्वप्नों से डर डर
कई कई बार नहाएँगे मिटाने को कत्थई धब्बे
जो हमने उनको दिए हैं।
जीवन अनन्त बीतेगा हमारी याद के खिलाफ
सोच सोच कर कि आगे कैसे क्या बोएँ।

दो

ये जो लोग हैं
जो कह देते हैं कि हम इनसे दूर चले जाएँ
क्योंकि हमारे सवाल उन्हें पसन्द नहीं
ये लोग सुन्दर लोग हैं

अत्याचारी राजाओं के दरबारी सुन्दर होते हैं
दरबार की शानोशौकत में वे छिपा रखते हैं।
जल्लादों को जो इनके सुन्दर नकाबों के पीछे होते हैं।

धरती पर फैलता है दु:खों का लावा
मौसम लगातार बदलता है
सुन्दर लोग मशीनों के पीछे नाचते हैं
अपने दुखों को छिपाने की कोशिश करते हैं।

सड़कों मैदानों में हर ओर दिखता है आदमी
फिर भी सुन्दर लोग जानना चाहते हैं कि मनुष्य क्या है
सुन्दर नकाब के पीछे छिपे जल्लाद से झल्लाया प्राणी
हर पल बैचेन हर पल उलझा
सच और झूठ की पहेलियाँ बुनता

ये सुन्दर लोग हैं
ये कह देते हैं कि हम इनसे दूर चले जाएँ
क्योंकि हमारे सवाल उन्हें पसन्द नहीं
ये लोग सुन्दर लोग हैं।

(‘वाणी प्रकाशन’ से प्रकाशित सुंदर लोग और अन्य कविताएँ से साभार)

सामयिक वार्ता

जुलाई 2015 वर्ष 38 अंक 11-12

संस्थापक संपादक
किशन पटनायक

संपादक मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा (अध्यक्ष)
कमल बनर्जी, अफलातून, बाबा मायाराम,
संजय भारती, चंचल मुखर्जी (संयोजक)

संपादन सहयोग
लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन, अरविंद मोहन,
हरिमोहन, राजेंद्र राजन, अरुण कुमार त्रिपाठी,
मेधा, चंदन श्रीवास्तव, महेश विक्रम सिंह

प्रबन्ध सहयोग : नीता चौबे

परामर्श मंडल : योगेंद्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल

आवरण चित्र : ''द लास्ट माउण्टेन'' (अन्तिम पहाड़)

चित्रकार : रेबेका ओलिनर, **माध्यम :** कागज पर ग्रेफ़ाइट

अक्षर संयोजन : राधेकृष्ण अग्रवाल

खाता नाम- सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा- सोनारपुरा, वाराणसी,
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या- 40170100005458
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं।
S के बाद O(ओ) है।)
MICR Code : 221012030
यहाँ खाता में पैसा जमा करने तथा ग्राहक
के पते की सूचना ई-मेल अथवा मोबाइल
08765811730, 08004085923 पर अवश्य दें

कार्यालय
डी-228/160, पांडेय हवेली, वाराणसी-221001
फोन: 08004085923 (संपादन), 08765811730 (प्रबंध)
e-mail : varta3@gmail.com

विषय-सूची

3 यूरोप को राह दिखाता कमजोर ग्रीस — उज्ज्वल भट्टाचार्य

6 विदेश नीति का बंटाधार — चन्द्रभूषण चौधरी

7 विधेयकों का असली मकसद गरीब विरोधी — प्रो. अरुण कुमार

10 वह पौने दो बरस लंबी रात — प्रियदर्शन

12 वैश्विक खनन उद्योग का असली चेहरा — समरेन्द्र दास, मिरियम रोज

27 मैं एक बेटी हूं, दोस्त हूं और प्रेमिका हूं, तुम जीतोगे नहीं। — इयोन वेल्स

29 किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला — शिउली वनजा

31 जनगणना : अधूरी गिनती का अपराधी कौन? — दिलीप मंडल

38 उच्च शिक्षा का विश्व-व्यापार — अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच

41 श्रद्धांजलि : परेशजी का जाना — शिवदयाल

43 पुस्तक चर्चा : औपनिवेशिक लूट का अंधकूप — संजय गौतम

सदस्यता शुल्क
वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200/- पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

सम्पादकीय

ग्रीस के संकट से सबक

भारत जैसी तथाकथित विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के नायकों को जुलाई 2015 के मध्य में हुए संकट समाधान के ग्रीस के प्रयत्नों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। विशेषकर उन लोगों को जो बहुराष्ट्रीय वैश्विक वित्तीय संस्थाओं की सहायता और विदेशी पूँजी निवेश की भूमिका को किसी देश की अर्थ व्यवस्था को आगे ले जाने में महत्वपूर्ण मानते हैं। ग्रीस, जो दूर अतीत में पश्चिमी जगत की सभ्यता का मूल स्रोत था आज आबादी और विस्तार की दृष्टि से यूरोप का एक अत्यंत ही लघु राष्ट्र है जिसकी आबादी एक करोड़ से भी कम है। औद्योगीकरण की दृष्टि से भी यह जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि की तुलना में काफी पीछे है। कृषि और खनन उद्योग की ही प्राथमिकता है। पर्यटन उद्योग से ही– एक तरह से अभी भी अतीत के सहारे ही– अपने को टिका पा रहा है। अधिकांश यूरोपीय देशों की तरह यह भी यूरोपीय संघ का सदस्य बना और यूरोप की नयी मुद्रा 'यूरो' को अपना कर ''यूरोजोन'' का सदस्य बन गया। फलस्वरूप इसकी अपनी मुद्रा नहीं है जिससे अपनी मुद्रा के प्रसार या संकोच से विश्व के आर्थिक थपेड़ों का सामना कर सके।

ग्रीस के वर्तमान संकट का उत्स यह भ्रम रहा है कि दुनिया की वित्तीय संस्थाओं से अपने को जोड़ यह तेजी से विकसित हो सकता है। 2001 से ही यह युरोजोन (वह क्षेत्र जिसमें यूरो ही मान्य मुद्रा है) का सदस्य है। इससे अपने बैंकों के मुद्रा भंडारण पर भी इसका नियंत्रण नगण्य है। इस तरह ग्रीस काफी हद तक दुनिया की शक्तिशाली वित्तीय संस्थाओं यथा यूरोपीय सेंट्रल बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष पर निर्भर हो गया। ये वित्तीय संस्थाएं क्रमश: युरोपीय यूनियन के शक्तिशाली देश, मसलन जर्मनी एवं अमेरिका के आर्थिक हितों को ध्यान में रख कर ही अपना रुख किसी देश की अर्थ व्यवस्था के प्रति तय करती हैं।

2002 से लेकर 2007 का काल पश्चिमी दुनिया में आर्थिक फैलाव का काल था और इसका फायदा ग्रीस को भी हुआ। बाहरी निवेश से आर्थिक क्षेत्र में फैलाव हुआ। राष्ट्रों में भी, व्यक्तियों की तरह ही अगर गुंजाइश हो तो, ऋण लेकर घी पीने का रुझान होता है। अत: आसान शर्तो पर ऋण पाने से ग्रीस की अर्थ व्यवस्था में शाहखर्ची का माहौल बना। जीवन स्तर में सुधार और सैन्य शक्ति के दिखावे का रुख भी रहा। इसी क्रम में ग्रीस की राजधानी एथेंस में (2004 में) ओलंपिक खेलों का आयोजन हुआ। ओलंपिक खेल की शुरुआत प्राचीन ग्रीस में ही हुई थी और इस आयोजन से पुरानी गरिमा और वैभव का अल्पकालिक भ्रम तो हुआ लेकिन ग्रीस की छोटी अर्थव्यवस्था पर इसका बोझ भारी पड़ा।

ओलंपिक तो एक तात्कालिक बोझ था। इससे भी बढ़ कर अपने शक्ति प्रदर्शन का जुनून इस छोटे से देश पर सवार हुआ, जिससे सेना और नौसेना पर भारी खर्च किया गया। राष्ट्रीय आय का लगभग तीन प्रतिशत फौज पर खर्च किया जा रहा था। दिलचस्प है कि इस मद में खर्च की गयी रकम का काफी बड़ा हिस्सा जर्मनी से लड़ाकू जहाज ओर टैंक खरीदने में गया। ज्ञातव्य है कि जर्मनी फिलहाल, युरोपीय यूनियन का सबसे शक्तिशाली सदस्य है और यूरोजोन की अर्थनीति को निर्धारित करने में इसकी अहम भूमिका है। एक तरफ जर्मनी ग्रीस को खर्चीले हथियार बेच कर आर्थिक रूप से दिवालिया बनाता है और फिर जब वह कंगाली की हालत में पहुँचता है तो फिर युरोपीय संघ के नायक की हैसियत से कड़े आर्थिक शर्तो पर राहत की पेशकश करता है।

दुनिया के वर्तमान आर्थिक ढांचे में ग्रीस का ताजा घटनाक्रम वामपंथी राजनीति की विडंबनाओं को भी उजागर करता है। संयोग से यूरोपीय कमीशन, यूरोपीय सेंट्रल बैंक और अंतराष्ट्रीय मुद्रा कोष (जिन तीनों को ''ट्रोइका'' का नाम दिया गया है) से आर्थिक समझौता करने की जवाबदेही फिलहाल ग्रीस के वामपंथी शासक दल सीरिजा और इसके प्रधानमंत्री अलेक्सिस सिप्रास के मत्थे आ गयी। ट्रोइका की शर्तें– श्रमिकों की आय, बुजुर्गों के पेंशन आदि की कटौती से लेकर सार्वजनिक परिसंपत्तियों के विनिवेश आदि सीरिजा की मूल नीतियों के इतना विपरीत थी कि प्रधानमंत्री सिप्रास के लिए इन्हें कबूल करना मुश्किल था। स्वयं कबूल करने के बदले प्रधानमंत्री ने जनमत के समक्ष इसे नामंजूर करने की अपील के साथ पेश किया। जुलाई 5, 2015 को इस पर मतदान हुआ जिसमें 61 प्रतिशत लोगों ने विरोध जताया और 39 प्रतिशत ने इसे मंजूरी दी। ग्रीस की स्थिति ऐसी थी कि बिना ''ट्रोइका'' के

समर्थन के व्यवस्था नहीं चलाई जा सकती थी। अंततः प्रधानमंत्री सिप्रास ने ट्रोइका की शर्तो को कबूल करने का प्रस्ताव ग्रीस की प्रतिनिधि सभा के सामने रखा। स्वयं उनकी अपनी पार्टी सीरिजा के कुछ सदस्य बागी हो गए और अंततः प्रस्ताव विरोधी सदस्यों के समर्थन से पारित हो पाया।

इस अपमानजनक समझौते को कबूल करने की विवशता यह थी कि ग्रीस के पास विकल्प का कोई विश्वसनीय औजार नहीं बचा था। यूरोजोन में आने से इसकी अपनी मुद्रा कोई नहीं थी जिसे छाप कर विविध मदों में खर्च कर पाता। 'युरो' को अपनी मुद्रा के रुप में मान्यता देने में ग्रीस अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थानों का बंधक बन गया था।

जिन कारणों से 'त्रोइका' द्वारा रखी गयी शर्तो का विरोध हो रहा था वे थीं वामपंथी सरकार की कुछ बुनियादी मानवीय मूल्यों को लागू करने की प्रतिबद्धता– मसलन वृद्धावस्था के लिए यथेष्ठ पेंशन के प्रावधान, श्रमिकों की आर्थिक और काम की स्थिति में सुधार और राजकीय क्षेत्र की परिसंपत्तियों की सुरक्षा जिनके निजीकरण से सरकारी आय–व्यय के असंतुलन को खत्म करने की मांग 'त्रोइका' की ओर से ही रही थी। अपनी समग्रता में 'त्रोइका' की मांगे सामाजिक न्याय और समता की दिशा में होने वाले प्रयत्नों के विपरीत पड़ते थे। अतः फिलहाल ग्रीस के गले का फांस मुकम्मल हो चुका है।

लेकिन जो कुछ ग्रीस में हुआ वह बिल्कुल नया या अप्रत्याशित नहीं था। वैचारिक दृष्टि से इसका महत्व यह है कि विकसित युरोप के भीतर का भी कोई देश अपने यहां कोई न्यायपूर्ण व्यवस्था तब तक लागू नहीं कर सकता जब तक अपनी अर्थव्यवस्था को ज्यादा से ज्यादा आत्मनिर्भर न बनाये और सामरिक शक्ति बनने की महत्वकांक्षा से छुटकारा नहीं पाये क्योंकि समाज पर यह सबसे बड़ा और निरर्थक बोझ साबित होता रहा है। हमारे देश के नीति निर्धारकों को जो दुनिया भर में निवेश के लिए झोली फैलाये घूम रहे हैं, ग्रीस से सबक लेना चाहिए और आत्मनिर्भरता की अर्थनीति अपनाना चाहिए। सबसे बढ़कर हथियारों की होड़ के पागलपन से बचना चाहिए।

सच्चिदानंद सिन्हा

22.07.2015

यूरोप को राह दिखाता हुआ कमज़ोर ग्रीस

उज्ज्वल भट्टाचार्य

(छात्र–संगठन से जुड़े रहे उज्ज्वल भट्टाचार्य तीन दशक से जर्मनी में हैं । लम्बे समय तक जर्मनी के रेडियो तथा टेलिविजन से जुड़े रहे। उन्होंने बर्तोल्त ब्रेश्त, गोएथे व एरिष फ्रीड की कविताओं का जर्मन से हिंदी में अनुवाद किया है। ग्रास की कविताओं का अनुवाद प्रकाशनाधीन है। रवींद्रनाथ का अनुवाद पत्नी के साथ मिलकर जर्मन में किया है। 'सामयिक वार्ता' उनकी आभारी है।)

1990 की बात है। बाकी दुनिया की तरह यूरोप में भी अभी सुधार के नारे के साथ नव उदारीकरण के बुलडोजर की विजय यात्रा शुरू नहीं हुई थी। ग्रीसमें अनुदारवादी प्रध ाान मंत्री कोन्स्टान्टिनोस मिटसोटाकिस की सरकार ने शिक्षा सुधार के अंतर्गत स्कूलों का वर्गीकरण शुरु किया। 15 साल के एक छात्र को लगा कि यह सिर्फ़ शिक्षा जगत ही नहीं, देश का सामाजिक–सांस्कृतिक चरित्र बदल देगा, अभिजात्यीकरण की एक प्रक्रिया तेज हो जाएगी। अपने स्कूल में उसने छात्रों का एक आंदोलन शुरु किया – देखते ही देखते जंगल की आग की तरह वह आंदोलन सारे देश में फैल गया, नागरिकों ने स्कूलों को अपने कब्जे में ले लिया, सारी स्कूली व्यवस्था ठप्प हो गई, टेलीविजन पर हर कहीं 15 साल के उस किशोर का चेहरा देखा जा सकता था।

15 साल के उस किशोर का नाम था आलेक्सिस त्सिप्रास, कम्युनिस्ट पार्टी की छात्र–युवा शाखा का एक स्थानीय नेता। आज वह ग्रीस का प्रधान मंत्री है, यूरोपीय संघ में 18 देशों के मोर्चे को अकेले चुनौती दे रहा है। वह कोई ऐतिहासिक पुरुष या महामानव नहीं है, लेकिन समय और परिस्थिति की मजबूरी से उभरी उसकी महज व्यवहारिक राजनीति से नव उदारीकरण की विश्वव्यापी रणनीति को पहली कारगर चुनौती मिल रही है। कितनी कारगर है यह चुनौती ?

1973 में छात्र विद्रोह के चलते सैनिक तानाशाही को बोरिया-बिस्तर बांधकर बैरकों में लौटना पड़ा था। उसके बाद 1990 में यह ग्रीस का सबसे बड़ा छात्र आंदोलन था। छात्र जगत में एक क्रांतिकारी माहौल बन चुका था। वे शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन चाहते थे। परीक्षा और नंबर के बिना एक मुक्त स्कूली माहौल चाहते थे, जहां शिक्षक और छात्र के बीच संवाद शिक्षा का आधार हो। लेकिन अपनी कम्युनिस्ट पृष्ठभूमि के बावजूद त्सिप्रास की सिर्फ़ एक मांग थी: प्रस्तावित सुधार वापस लिया जाय। देश के शिक्षा मंत्री को मजबूर होकर उससे बात करनी पड़ी और तीन महीने बाद सरकार को अपना शिक्षा सुधार वापस लेना पड़ा। शिक्षा मंत्री को बर्खास्त कर दिया गया।

आज भी आलेक्सिस त्सिप्रास का यह आधारभूत रवैया बरकरार है। बर्लिन और ब्रसेल्स में यूरोपीय सत्ता के गलियारों से जो नव उदारवादी हमले हो रहे हैं, उनके ख़िलाफ वह कतई कोई सैद्धांतिक चोट नहीं कर रहा है। वह अर्थजगत में तेजी लाने के लिये नुस्खे के रूप में व्यापक निजीकरण को अपनाने को तैयार है, बजट में कमी लाने के लिये पुरजोर कोशिश किये जा रहा है और उसे आंशिक सफलता भी मिली है, अवकाश प्राप्त करने की उम्र बढ़ाकर 67 करने को तैयार है, यहां तक कि उसने देश के रक्षा बजट में उल्लेखनीय कमी करते हुए (खासकर जर्मन) हथियारों की खरीद के अनुबंधों को रद्द करने की दिशा में कोई पहल नहीं की है। किसी भी मामले में वह यूरोपीय संघ की आर्थिक नीति को चुनौती नहीं दे रहा है।

सिर्फ़ दो सवालों पर वह अड़ा हुआ है: ग्रीस की जनता पर और अधिक गरीबी नहीं थोपी जाएगी। सुधार की समय सारिणी यूरोपीय संघ, यूरोपीय मुद्रा बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की फरमान पर नहीं, बल्कि ग्रीस की वास्तविक स्थिति व उसकी जरूरतों के मुताबिक तय की जाएगी। वह ग्रीस के लिये कर्ज़ माफी नहीं, बल्कि उसे चुकाने के लिये समय की मांग कर रहा है। वह इसके लिये तैयार नहीं है कि वित्तीय अनुशासन के नाम पर ग्रीस का अर्थजगत और अधिक सिकुड़े। चार्ल्स डिकेन्स के नायक, अनाथालय के बालक ओलिवर ट्विस्ट की तरह वह सिर्फ़ एक कलछुल दलिया मांग रहा है और यह मांग एक क्रांतिकारी मांग हो गई है, क्योंकि वह नव उदारवाद की तार्किकता को एक खुली चुनौती है।

बिना कोई क्रांतिकारी कार्यक्रम पेश किये उसकी पार्टी ने यूरोपीय आकाओं के मांगपत्र को जनता के सामने पटक दिया। उनसे पूछा: क्या इसे स्वीकारा जाय? हां या नहीं ?

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ग्रीक भाषा में 'नाई' Nai का अर्थ है हां और 'ओखि' Oxi (उच्चारण ओखि) का अर्थ है नहीं।

और वहां हर साल 28 अक्टूबर को ओखि दिवस मनाया जाता है, जो सार्वजनिक अवकाश का दिन है।

इस दिवस की कहानी 1940 की एक घटना से जुड़ी हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उस साल फाशिस्ट इटली ने 28 अक्टूबर को तटस्थ ग्रीस को एक अल्टिमेटम दिया था कि इटली की सेना को ग्रीस में प्रवेश की अनुमति दी जाय। ग्रीस की सेना कमजोर थी, युद्ध होने पर इटली की विजय सुनिश्चित थी, लेकिन राष्ट्रीय स्वाभिमान के चलते ग्रीस ने कहा- 'ओखि' यानी नहीं।

और फिर एक चमत्कार हुआ। ग्रीस की कमजोर सेना के प्रतिरोध के सामने फासीवादी इटली को नाको चने चबाने पड़े। आखिरकार नाजी जर्मनी को अपने फासीवादी मित्र इटली की मदद के लिये सामने आना पड़ा। अप्रैल, 1941 में नाजी सेना ने ग्रीस के अधिकांश इलाके पर कब्जा कर लिया। ग्रीस के देशभक्त छापामार एक-एक इंच जमीन के लिये लड़ते रहे। समूची आबादी पर नाज़ियों की ओर से भयानक अत्याचार ढाए गए।

यह शब्द 'ओखि' ग्रीस के राष्ट्रीय स्वाभिमान, आजादी की उसकी अदम्य आकांक्षा के साथ जुड़ा हुआ है। साथ ही, जर्मनी के साथ उसके संबंधों के साथ भी जुड़ा हुआ है।

इसी पृष्ठभूमि में 5 जुलाई को यूरोपीय संघ के मांगपत्र पर एक जनमत संग्रह हुआ। 61 फीसदी से अधिक मतदाताओं ने 'ओखि' कहते हुए त्सिप्रास के नेतृत्व में सीरित्सा सरकार की नीति की पुष्टि की। यह तारीख भी ऐतिहासिक है। 1953 में इसी दिन ग्रीस की सरकार ने नाजी जर्मनी द्वारा विश्वयुद्ध के दौरान जबरदस्ती लिया गया कर्ज़ माफ कर दिया था, क्योंकि पश्चिम जर्मन सरकार कर्ज़ चुकाने की स्थिति में नहीं थी।

यूरोप किधर ?

यूरोप सहित पश्चिमी जगत में, व उससे परे - मसलन भारत के "नव-विकासवादी" कुछ इस नजरिये से ग्रीस को देखते हैं, मानो वह अमीर कुनबे की शादी की पार्टी में

आया बदहाल रिश्तेदार हो। यहां दो-तीन बातें स्पष्ट कर देना जरूरी है। पहली बात कि यह सच है कि ग्रीस के अर्थजगत में पुरानी ढांचागत समस्यायें रही हैं, और अनुदारवादी न्यू डेमोक्रेसी व सोशल डेमोक्रेटिक पासोक की सरकारें उन्हें सुलझाने के बदले बैंकों व समृद्ध पश्चिमी देशों के नुस्खों पर चलने में ही अपनी भलाई समझती रही हैं। कम्युनिस्ट खेमे के साथ अगले मोर्चे के देश के तौर पर उदारता के साथ उसे कर्ज़ दिया जाता रहा, उस पैसे से देश की अर्थनीति के लिये गैरजरुरी निवेश किया जाता रहा, जिनका मुनाफा पश्चिमी बैंकों में बहता रहा। तथाकथित बेल-आउट का संकट सन 2009 में आया, जब अनुदारवादी न्यू डेमोक्रेसी की सरकार थी। वामपंथी सीरित्सा का उदय एक लंबी प्रक्रिया का, व साथ ही, उस संकट का परिणाम है। ऐसा नहीं है कि सीरित्सा की गलतियों की वजह से ग्रीस में संकट आया हो।

दूसरी बात यह है कि ग्रीस इस वक्त यूरोपीय संघ की सबसे कमजोर कड़ी हो सकती है, लेकिन वह उसकी अकेली कमजोर कड़ी नहीं है। वित्त जगत के गिद्धों की नजर ऐसी कमजोर कड़ियों पर रहती है, और मौका मिलते ही वे खासकर अमरीका और ब्रिटेन में स्थित रेटिंग एजेंसियों के जरिये उनकी साख घटने की घोषणा करते रहते हैं। रेटिंग घटते ही उस देश को मिलने वाले ब्याज की दर बढ़ने लगती है, और संकटग्रस्त देश वित्तीय रूप से एक दलदल में फंस जाता है।

एक संयुक्त बाजार विकसित करने के लिये यूरोपीय संघ की प्रक्रिया शुरू की गई थी, विश्व के वित्तीय बाजार में धाक बनाये रखने के लिये मुद्रा संघ बनाते हुए यूरो मुद्रा का प्रचलन किया गया था। वैचारिक एकता के आधार के रूप में पश्चिम के यूरोपीय मूल्यों और परंपराओं को मान्यता दी गई थी। लेकिन आर्थिक विकास की दृष्टि से इन देशों में समरूपता नहीं थी, इस मामले में सिर्फ़ कुछ न्यूनतम मापदंड बनाये गये थे। बेहतर आर्थिक परिणाम वाले देशों, मसलन जर्मनी या फ्रांस के लिये भी इन मापदंडों पर खरा उतरना हमेशा संभव नहीं रहा है। लेकिन अपने अर्थजगत की विशालता के चलते उनकी साख बनी रही, और वे कहीं आसानी से तूफानी दौर से गुजरकर बेहतरी की ओर बढ़ सके। ग्रीस जैसे देशों को यह मौका नहीं मिल रहा है।

और यहीं सीरित्सा व उसके नेता आलेक्सिस त्सिप्रास की खूबी देखी जा सकती है कि वे गरदन मरोड़ने की इस नीति को ठेंगा दिखा सके हैं। लेकिन परिस्थिति भी उनके लिये इस आशय में सहायक रही है कि ग्रीस की जनता के लिये यूरोपीय संघ के हुक्म के मुताबिक बेतहाशा बचत या यूरो मुद्रा से बहिष्कार- इन दोनों का मतलब भयानक बदहाली होता। पहले का मतलब था गुलामी में मरना, और दूसरी स्थिति में इज्जत के साथ मरना। ग्रीस के मतदाताओं ने इज्जत से मरने का जोखिम उठाया है।

क्या अब ग्रीस को यूरो परिवार से भगाकर मामला निपटा दिया जा सकता है? या उसके लिये यूरो मुहैया करने से इंकार करते हुए देश के अंदर मुद्रा विनिमय चालू रखने के लिये उसे एक राष्ट्रीय मुद्रा के प्रचलन के लिये मजबूर कर दिया जा सकता है, जिसका मतलब पिछले दरवाजे से ग्रीस का निष्कासन होगा? मामला इतना आसान नहीं है। ग्रीस के निष्कासन का अर्थ यह होगा, कि तुरंत उस पर चढ़े कर्ज़ बैड डेब्ट (बुरे कर्ज) मान लिये जाएंगे और यूरोपीय केंद्रीय बैंक की साख पर इसका भयानक असर पड़ेगा। ग्रीस के निष्कासन का मतलब यह भी होगा कि यूरो से किसी एक देश का बाहर होना संभव है, और तुरंत अगले उम्मीदवारों के रूप में पुर्तगाल, स्पेन, आयरलैंड, या इटली जैसे देश होंगे, जिनके आसमान पर रेटिंग एजेंसी के गिद्धों का मंडराना शुरू हो जाएगा। वित्तीय रूप से कमजोर देशों के बाहर होते ही यूरो की दर विश्व मुद्रा बाजार में आसमान छूने लगेगी, और जर्मनी जैसे देशों की निर्यात आधारित अर्थनीति प्रतिस्पर्धी नहीं रह जाएगी।

और अगर गंभीर वार्तालाप के जरिये ग्रीस के लिये कोई रास्ता निकाला जाय? यह वित्त जगत की सट्टेबाजी पर आधारित नव उदारवादी नीति के लिये दीर्घकालीन रूप से घातक सिद्ध होगा। यूरोपीय अर्थनीति में जर्मनी की दबंगई नहीं चलेगी, स्पेन और इटली अपनी मांगों के साथ सामने आयेंगे, फ्रांस के तेवर बदलेंगे। स्पेन में पोडेमोस की शक्ल में सीरित्सा जैसा एक आंदोलन विकसित हो चुका है। संभव है कि इस वर्ष के अंत में होने वाले चुनाव में उसकी जीत हो। फ्रांस और इटली की सरकारें चुनाव में बचतवादी नीति का विरोध करते हुए सत्तासीन हुई थीं, लेकिन जर्मनी का विरोध करने की हिम्मत वे नहीं जुटा सके। ग्रीस ने हिम्मत जुटाई है।

इस बीच यूरोपीय संघ के साथ ग्रीस की एक डील हो चुकी है। लेकिन मेरी राय में उससे ऊपर कही गई बातों की वैधता कतई नहीं घटती है। लेमान ब्रदर्स के पतन के बाद आई मंदी में जर्मन अर्थजगत पांच फीसदी से अधिक

सिकुड़ चुका था। स्थिति से निपटने के लिये निवेश को बढ़ावा दिया गया था, बचत नहीं की गई थी। ग्रीस का अर्थजगत पिछले समय में सिकुड़ता गया है। वृद्धि को प्रोत्साहन देना पहला कर्तव्य होना चाहिये था। यूरोपीय संघ के साथ ग्रीस का जो समझौता हुआ है, उसके तहत पचास अरब यूरो के मूल्य में राजकीय संस्थानों का निजीकरण किया जाना है। यह प्रक्रिया यूरोपीय संघ के देखरेख में होगी। जल्द ही यूरोपीय संघ को स्वीकार करना पड़ेगा कि ग्रीस के ये संस्थान अंडा और दूध देने वाले मांसल बकरे नहीं हैं, जिनसे खेत की जुताई भी हो सके।

यह डील कोई रास्ता नहीं निकाल पाएगा। लेकिन जर्मनी को झुकना पड़ा है। यानी एक रास्ता ढूंढ़ने का सफर शायद कुछ आसान हुआ है।

विदेश नीति का बंटाधार

चन्द्र भूषण चौधरी

नरेन्द्र मोदी ने तो पाकिस्तान के मामले में भारत देश और सरकार की इज्ज़त मिट्टी में मिला डाली। बिना किसी अनिवार्य और उचित राजनीतिक कारण के और विभिन्न शासकीय स्तरों पर बिना किसी विचार विमर्श के मोदी ने अगस्त 2014 में विदेश सचिव स्तर के सम्बन्ध को तोड़ दिया। भा ज पा अध्यक्ष अमित शाह और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रवक्ता राम माधव ने अपने बयानों में मोदी के इस कदम को उचित ठहराया। भा. ज. पा. के अन्य नेता चुप रहे। कूटनीतिक (डिप्लोमैटिक) नियम में इसका नतीजा यह होता है कि विदेश सचिव से ऊपर (किसी मन्त्री, विदेश मन्त्री और प्रधान मन्त्री स्तर) के संपर्क और विमर्श अपने आप ही बन्द हो जाते हैं। 'अगस्त 14 से मार्च 15' तक दोनों देशों के सम्बन्धो में यही बन्दिश लगी रही। इन छह महीनों में ऐसा कोई अच्छा घटनाक्रम या नये कारण सामने नहीं आये जिनसे यह माना जाय कि भारत-पाक सम्बन्ध सुधरे हों। यदि अगस्त 14 में विदेश सचिव स्तर के सम्बन्ध उचित कारणों से तोड़े गए थे तो उन्हें शुरू करने की वजह या औचित्य नहीं बने थे।

मार्च 15 में विदेश सचिव जयशंकर अचानक पाकिस्तान पहुँच गए। इस सम्बन्ध को फिर शुरू करने का कोई औचित्य सरकार द्वारा देश को नहीं बताया गया।

और 10 जुलाई 15 को रूस के ऊफा शहर में मोदी ने नवाज़ शरीफ से बाजाप्ता औपचारिक बैठक कर ली है। खबर है कि प्र. मं. स्तर की इस बैठक की पहल भारत की ओर से ही हुई है।

पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध भारतीय विदेश नीति का सबसे जटिल और संवेदनशील विषय है। इसमे सामाजिक लम्बी सीमा, भौगोलिक (कठिन पड़ोसी), सामरिक, व्यापारिक दोनों देशों की आतंरिक राजनीतिक (चुनाव प्रचार तक में), ऐतिहासिक, कश्मीर समस्या, साझा नदियों जैसे दर्जन से ज्यादा मुद्दे जुड़े हैं। कायदतन इस बैठक के पहले नीचे के शासकीय स्तरों की तैयारी बैठकें होनी चाहिए थी- कार्यसूची (एजेंडा) बनाने के लिए। इसमे दोनों देशों के विदेश मंत्रियों की मंत्रणा भी शामिल है। बैठक के तीन- चार महीने पहले ही प्र. मं. स्तर की मुलाक़ात का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और विषय वस्तु पर सरकारी बयान और सार्वजनिक घोषणाएं आनी चाहिए थी। सरकार द्वारा देश को यह बताना एक अनिवार्य कर्त्तव्य था कि अगस्त 14 से जुलाई 15 के बीच नीतियों और माहौल में ऐसा क्या बदलाव हुआ कि इतने उच्च स्तर की बैठक हो सकती है। पर ऐसा कुछ भी नहीं किया गया।

बिना किसी तैयारी के ''नुक्कड़ के चाय दुकान पर गप शप'' की अदा में मोदी-नवाज़ मुलाकात हो गई। सरकारों के बीच बिना उचित तैयारी और कार्य सूची के बैठकें करना जनता को गुमराह करना और देश के बड़े धन और शासन तंत्र के मूल्यवान समय, कूटनीतिक दृष्टि Diplomatic Vision और शक्ति को बर्बाद करना है।

इस बैठक के एक दिन पहले ही कश्मीर में सीमा पर पाकिस्तान की और से गोली बारी हुई और सीमा सुरक्षा बल का एक जवान मारा गया। सच में मोदी को केवल हाथ मिलाना और फोटो खिंचवाना ही आता है। अच्छे शासन के तौर तरीकों का उन्हें कोई ज्ञान ही नहीं है। अगर मोदी पाँच साल प्रधान मंत्री रह गए तो देश की बरबादी तय है। भा. ज. पा. और उसके सहयोगी दल के सांसद इस बात को समझें।

विपक्षी लोहिया की बात सीखें-

''जिंदा कौमें पाँच साल इंतजार नहीं करती हैं''।

नए विधेयकों का असली मकसद गरीब विरोधी

प्रो. अरुण कुमार

(अरुण कुमार जवाहर नेहरु विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में सुखमय चक्रवर्ती पीठ (चेयर) पर प्रोफेसर के रुप में कार्यरत हैं।)

सरकार जिन कानूनों पर विचार कर रही है, उसके कुछ हिस्सों से इस दावे का खंडन होता है कि वह भ्रष्टाचार विरोधी एवं गरीब हितैषी है।

संसद के विगत सत्र में कुछ विधेयक पारित हो गए तो कुछ को परीक्षण के लिए संसदीय समिति को भेजना पड़ा। कुछ विलंबित विधेयकों को व्यापक बदलाव लाने वाला (गेम चेंजर) कहा जा रहा है। इन पर शेयर बाजार की प्रतिक्रिया भी नकारात्मक है। ये विधेयक लोकसभा में पारित हो गए हैं, लेकिन राज्यसभा में अटक गए हैं, क्योंकि सरकार के पास अपेक्षित संख्या नहीं है। इन विधेयकों के पारित न होने में राजनीति की भी भूमिका है, लेकिन इसके अलावा भी कुछ ऐसे कारण है, जिसके चलते इन विधेयकों पर पुनर्विचार करना देश के हित में है।

कागज़ी शेर : 'कालाधन विधेयक' पर ही बात करें, जो आसानी से दोनों सदनों पारित हो गया। देश में मौजूद भ्रष्टाचार विरोधी माहौल के कारण कोई भी दल इसका विरोध करता हुआ नहीं दिखना चाहता था। विधेयक में विदेशों में अवैध रुप से जमा धन को वापस लाने की बात है, इसलिए इसका विरोध करने में राष्ट्र विरोधी होन का आभास होता। यह इसलिए भी आसानी से पारित हो गया क्योंकि अधिकांश लोग वस्तुतः यही महसूस करते हैं कि इस कानून से विदेश से 'धन' लाने में सफलता मिलने की संभावना अत्यंत कम है। स्वयं भारतीय जनता पार्टी से जुड़े राम जेठमलानी एवं सुब्रमण्यम स्वामी ने इस विधेयक को कागज़ी शेर कहकर सच उजागर कर दिया है।

विधेयक में उन भारतीयों के लिए, जिन्होंने विदेशों में अघोषित धन जमा किया है अथवा कमाया है, कड़ी सजा का प्रावधान किया गया है। अप्रवासी भारतीयों को इसके दायरे से बाहर रखा गया है, जिन्होने वास्तव में विदेशों में धन जमा किया है और वहाँ धन कमाते हैं। वे भारतीय अधिकारियों के समक्ष अपनी आय एवं सपत्ति घोषित करने के लिए बाध्य नहीं है। इसलिए धनवान भारतीय अप्रवासी भारतीयों से तालमेल के माध्यम से धन जमा करते हैं और अपनी आय को कानूनी जामा पहना कर दिखाते हैं।

इस विधेयक के प्रावधान तभी लागू होंगे, जब सरकार विदेश में जमा धन का पता लगाने में सक्षम होगी। विधेयक में ऐसा करने के लिए किसी तंत्र को निर्मित करने का कोई प्रावधान नहीं है। इसलिए निर्धारित कठोर दंड अर्थात जेल की सजा एवं तीन सौ प्रतिशत अर्थदंड का प्रावधान शायद ही कभी लागू हो पाए। बचने के लिए क्षमा का प्रस्ताव भी है। यदि निर्धारित समय के भीतर कोई विदेश में जमा धन की घोषणा करता है और छः माह के भीतर कर अदा कर देता है तो उसे कोई दंड नहीं दिया जाएगा। इस प्रकार ऐसे लोगों के लिए भी जिन्होनें अनुभवहीनता के चलते अपने नाम से विदेश में धन जमा किया है और उससे धनोपार्जन कर रहे हैं, साफ-सुथरे होने का रास्ता खुला है। एच.एस.बी.सी. की सूची से उजागर हुआ है कि ऐसे भारतीय पकड़े गए हैं, जिन्होने अपने से पैसा जमा किया है और धन निकाला। (एच.एस.बी.सी. वह बैंक है, जिसकी स्विट्‌जर-लैण्ड स्थित एक शाखा में जमा भारतीयों के खातों की सूचना गत दिनों प्रकाशित हुई है। यह बैंक मूलतः इंग्लैण्ड का है तथा इन जानकारियों के उजागर होने के बाद उसके अध्यक्ष ने इंग्लैण्ड के प्रमुख दैनिकों में यह कहते हुए माफी मांगी कि हमने कई ऐसे लोगों के खाते खोलने की भूल की जो अपने देशों में अवैध धन कमाने में लिप्त थे)'अनुभवी' लोग अपने नाम से पैसा जमा करने की गलती नहीं करते हैं।

'छिपाने' की प्रक्रिया लंबे समय से उपलब्ध रही है। 'टैक्स हैवेन्स' में नकली कंपनियों का प्रयोग करके धन का अंतरण किया जाता है और व्यक्ति की पहचान छिपी रहती है। (टैक्स हैवेन (आश्रय) उन देशों को कहा जाता है जहाँ कर चोरी के तरीकों के वैधानिक उपाय उपलब्ध हैं।) इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि स्विस सरकार द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार स्विस बैंकों में भारतीयों के केवल 14,000 करोड़ रुपए हैं। अधिकांश धन भारतीयों के अपने नाम से हैं और कानूनी हैं। 'कालाधन' अधिकांश 'अनुभवी' भारतीयों के हैं, जिन्होने नकली कंपनियों के माध्यम से टैक्स हैवेन में जमा किया है, और उसकी गणना अभी भी, भारतीय धन के रुप में नहीं है। स्विस बैंकों में सबसे ज्यादा धन ब्रिटिश नागरिकों के हैं, क्योंकि सबसे ज्यादा टैक्स हैवेन उनके ही हैं।

बचाव का रास्ता :

विधेयक में ऐसे किसी तंत्र का प्रावधान नहीं है, जिससे बाहर जाता धन रुक सके या उसकी पहचान की जा सके। सरकार बार-बार यह कह रही है कि इसका पता दोहरा कराधान बचाव समझौता (DTAA) अथवा कर सूचना विनिमय (TIE) से लगेगा। ये समझौते विभिन्न देशों के साथ किए गए है। कहना न होगा कि ये समझौते पिछले दो दशक से अस्तित्व में हैं, लेकिन इनके माध्यम से आज तक काला धन जमा करने वालों के संबंध में कोई सूचना नहीं मिली है। यहीं यह बताना भी जरुरी है कि ये करार व्यक्तियों की घोषित आय के बारे में हैं, उनके अघोषित धन के बारे में नहीं। इसलिए सरकार का यह तर्क अत्यंत थोथा है।

विधेयक में यह धमकी भरा प्रावधान जरुर है कि विदेशों में कालाधन जमा करने वाले पकड़े जाएंगे तो उन्हें देश में कालाधन जमा करने वालों की तुलना में कड़ा दंड दिया जाएगाा। इसका एक निरोधक प्रभाव हो सकता है लेकिन चालाक वकील, चार्टड एकाउंटेंट एवं बैंक धन को छिपाने का जुगत निकाल लेंगे। इसलिए यह हारी हुई लड़ाई ही है। इस प्रकार इस विधेयक में सबसे महत्वपूर्ण प्रावधान क्षमादान का ही, जिसके चलते वे लोग साफ-पाक हो सकेंगे, जिन्होंने 'अनुभवहीनता' के चलते अपने नाम से धन जमा करने की गलती पहले की है। इतना सुविधाजनक विधेयक यदि संसद से पारित हो गया तो इसमें क्या आश्चर्य!

भ्रष्टाचार के विरुद्ध व्हिसल ब्लोअर :

देश में तेजी से फैले भ्रष्टाचार को उजागर करने के लिए व्हिसल ब्लोअर विधेयक को महत्वपूर्ण माना जा रहा है। किसी भी संस्था का भ्रष्टाचार उजागर करना बाहरी आदमी के लिए कठिन होता है, संस्था के भीतर का आदमी प्रायः इसे जानता होता है और यदि उसे इस कानून के अन्तर्गत सुरक्षा मिले तो वह एक सीमा तक इसे उद्घाटित कर सकता है। लेकिन इस विधेयक में जो संशोधन प्रस्तावित हैं, उनसे व्हिसल ब्लोअर की शिकायतों पर कार्रवाई करना ज्यादा कठिन हो जाएगा। लोग भ्रष्टाचार को उजागर करने के लिए सूचना लेकर आगे नहीं आएंगे। क्या सरकार का यही उद्देश्य है? भ्रष्टाचार के चलते अधिकांश भारतीयों का नुकसान हो रहा है और यदि व्हिसल ब्लोअर विधेयक इन संशोधनों के साथ पारित हो गया तो आम भारतीय ज्यादा प्रभावित होगा।

लघु क्षेत्रों पर दुष्प्रभाव :

देश में माल एवं सेवा कर (GST) को इस तरह पेश किया जा रहा है, जैसे यह सबसे बड़ा कर सुधार हो और इससे व्यापार के लिए एकीकृत बाजार उपलब्ध हो जाएगा, सकल घरेलू उत्पाद 1 प्रतिशत, कर एवं सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात 2 प्रतिशत बढ़ जाएगा। स्वदेशी सामानों की कीमत में 10 प्रतिशत की कमी आएगी और आर्थिक उन्नति का फायदा उठाने के लिए निर्माण क्षेत्र मजबूत होगा। इस प्रस्तावित विधेयक में संशोधन के प्रस्ताव किए गए है, जिसके परीक्षण के लिए इसे संसदीय समिति को भेजा गया है। इसीलिए इसे पारित कराने में विलंब हो रहा है। यू.पी.ए. सरकार ने इस विधेयक का विचार रखा था, लेकिन अब वह पीछे हट गई। वह राजग सरकार को इसका लाभ और श्रेय मिले यह नहीं चाहती है। लेकिन इस विधेयक को लेकर वास्तविक विरोध और चिंता राज्यों की ओर से है, क्योंकि उनके राजस्व में कमी आएगी।

सही बात यह है कि भारत में जी.एस.टी. की वास्तविक समस्याओं पर कोई राजनीतिक दल विचार नहीं कर रहा है। भारत में बहुत बड़े पैमाने पर असंगठित क्षेत्र है, जिनमें लगभग 93% लोगों को रोजगार मिला हुआ है। ये छोटी-छोटी इकाईयाँ स्थानीय स्तर पर उत्पादन करती है और बिक्री करती हैं। जी.एस.टी. के अन्तर्गत एकीकृत बाजार का उन्हें कोई लाभ नहीं मिलेगा। वस्तुतः ये बड़े स्तर पर उत्पादन के लाभ से वंचित होंगे। रोजगार सृजन कम होगा, बेरोजगारी बढ़ेगी और कृषि क्षेत्र की हालत खराब होगी। कृषि क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिक ही अतिरिक्त होने पर असंगठित क्षेत्र में कार्य करते हैं। असंगठित क्षेत्र के कमजोर होने से गाँवों की आर्थिक हालत और खराब होगी।

लघु उद्योग क्षेत्र जी.एस.टी. के दायरे से बाहर रहेंगे और अपना सामान बड़े उद्योग क्षेत्र को नहीं बेच पाएंगे, क्योंकि इनके पास मूल्य संवर्धित कर (वैट) के भुगतान के लिए रसीद ही नहीं होगी। इसके अलावा असंगठित क्षेत्र मूल्य संवर्धित कर को जोड़ने और उस पर कर के भुगतान के लिए आवश्यक लेखांकन एवं कम्प्यूटरीकरण का व्यय नहीं वहन कर सकेंगे। इन्हीं कारणों से वे जी.एस.टी. से बाहर रहेंगे और लाभ से वंचित रहेंगे।

जी.एस.टी. के समर्थन में दिए जा रहे तर्कों में अन्तर्विरोध साफ है। कर एवं सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात तभी बढ़ सकता है, जब ज्यादा कर संग्रह हो। लेकिन ऐसा होने पर कीमतें बढ़ेगी। कीमत बढ़ने पर मांग में कमी आएगी। इसलिए सकल घरेलू उत्पाद की दर में वैसी वृद्धि नहीं होगी, जैसा दावा किया जा रहा है। इसके अलावा यदि जी.एस.टी. टैक्स दर रेवेन्यू न्यूट्रल दर तक नहीं बढ़ती है तो कर संग्रहण कम होगा और कर तथा सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात नहीं बढ़

सकता। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से देखें तो सरकार के तर्कों का अन्तर्विरोध स्पष्ट है। यही कारण है कि राज्य अपने राजस्व की भारी क्षति के लिए चिंतित हैं। साफ कहें तो जी.एस.टी. बड़े व्यापारियों को फायदा पहुँचाने के लिए लाया जा रहा है। इससे लघु उद्योग क्षेत्र का नुकसान होगा और देश की बड़ी आबादी पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

हाशिए पर धकेला जा रहा किसान :

भूमि अधिग्रहण विधेयक भी बड़े व्यापारियों के ही हित में लाया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसका काम भी व्यापार को आसान बनाना ही है। इस प्रक्रिया में भूमि स्वामी कृषि समुदाय को हाशिए पर धकेला जा रहा है। हमारे यहाँ कृषि सिर्फ एक कार्य नहीं बल्कि जीवनशैली है। तमाम खामियों के बावजूद गाँव का यह समुदाय यदि टूटता है तो लोग यह जीवन शैली छोड़ने के लिए भी मजबूर होंगे। बहुत सारे लोग विस्थापित होकर थोड़ी बहुत संपत्ति ले कर शहरों में आएंगे, अजनबी एवं प्रदूषित झुग्गी-बस्तियों में रहेंगे और उनकी जीवन स्थितियों में गिरावट आएगी। क्या विधेयक के संबंध में इन लोगों से परामर्श नहीं किया जाना चाहिए? पहले ही अतिरिक्त जमीनें सस्ते मूल्य पर अधिगृहीत की गई हैं और यह बड़े व्यवसायों के लिए निवेश स्वरुप हो गया है।

गुड़गाँव में 1980 में बड़े डेवलेपर्स द्वारा जमीने ली गई। आवश्यक कार्यों के लिए उनका विकास करने की जगह व्यापारिक एवं आवासीय कार्यों के लिए उनका विकास किया गया। राजनीतिज्ञों के साथ गोपनीय सांठ-गांठ से डेवलपर अग्रिम सूचनाएं प्राप्त कर लेते हैं और सस्ती दरों पर जमीन का बड़ा हिस्सा खरीद लेते हैं। एक मुख्यमंत्री ने लाखो एकड़ जमीन के लिए अधिसूचना जारी कर दी थी। यदि सरकार न चली जाती तो इसका पूरा खामियाजा किसानों को भुगतना पड़ता।

संक्षेप में भूमि अधिग्रहण विधेयक और जी.एस.टी. से उन्हीं लोगों की परेशानी और बढ़ेगी, जो पहले से ही हाशिए पर हैं। काला धन विधेयक और व्हिसल ब्लोअर विधेयक में प्रस्तावित संशोधन से भारत अथवा विदेश में काले धन को उजागर करना और कठिन हो जाएगा, इससे आम आदमी की परेशानी बढ़ेगी। राजग सत्ता में आई तो वित्त मंत्री ने बयान दिया कि व्यवसाय हितैषी होना गरीब विरोधी होना नहीं है, लेकिन सरकार की कार्रवाई में विरोधाभास स्पष्ट है।

पत्रिका नहीं, वैचारिक आन्दोलन

सामयिक वार्ता

पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं, मित्रों को उपहार दें

वार्ता के लिए लिखें

आज दुनिया में काफी उथल-पुथल मची हैं। कई तरह के संकट पैदा हो रहे हैं। इनके खिलाफ असंतोष, बेचैनी, आंदोलन और विद्रोह भी काफी व्यापक है। किंतु इनके समझने और आगे बढ़ाने के लिए विचार-विश्लेषण भी जरूरी है। वैचारिक, प्रक्रिया बगैर विरोध और विद्रोह दिशाहीन होकर भटक जाएगी। इसी संदर्भ में सामयिक वार्ता का महत्व है, विचार, विश्लेषण, संवाद और विमर्श के एक मंच के रूप में। हम यह चाहते हैं कि इसमें व्यापक भागीदारी हो और यह थोड़े से बुद्धिजीवियों का बुद्धि विलास बनकर न रह जाए। इस देश में हिंदी का क्षेत्र बहुत बड़ा है। वार्ता देश के हर कोने में पहुँचे, यह हमारी इच्छा है। जनांदोलनों के कार्यकर्ताओं के लिए वार्ता वैचारिक शिक्षण और जानकारियों का स्रोत बने, यह भी इच्छा है। हम चाहते हैं कि वार्ता की भाषा पांडित्यपूर्ण होने के बजाए सरल, सहज और ऐसी हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग आसानी से समझ सकें। गहन विषयों और विमर्श को भी सरल भाषा में पेश किया जा सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है।

हम सामयिक वार्ता के विषयों का दायरा बढ़ाना चाहते हैं और उसमें विविधता लाना चाहते हैं। राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र और जनांदोलनों के साथ हम इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य, फिल्म, रंगमंच, विज्ञान, पर्यावरण, कानून, मानव अधिकार, खेल आदि जीवन के विविध पहलुओं को भी छूना चाहते हैं। लेखों के अलावा रपट, बातचीत, समीक्षा, डायरी, कविता आदि को भी हम वार्ता का हिस्सा बनाना चाहते हैं। इसकी कुछ झलक वार्ता के पिछले अंकों में मिली होगी। मोटे तौर पर गाँधी, लोहिया, जयप्रकाश, अंबेडकर, की धारा से जुड़े होने के बाबजूद हम वैचारिक रूप से ज्यादा खुलेपन की वार्ता में गुंजाइश रखना चाहते हैं और विविध वैचारिक धाराओं के बीच संवाद और स्वस्थ बहस को भी बढ़ाना चाहते हैं। दुनिया में जहाँ भी इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के नए प्रयोग हो रहे हैं, उनकी जानकारी देना और विचार-मनन के लिए पेश करना भी हम अपना काम मानते हैं। आज मीडिया तेजी से कॉरपोरेट मीडिया बनता जा रहा है। मुनाफे की पूजा के चक्कर में मीडिया में विचार की जगह बची ही नहीं है और एक तरह से अराजनीतिकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। वैकल्पिक मीडिया की जरूरत आज और ज्यादा बढ़ गई है। इस संदर्भ में भी सामयिक वार्ता का महत्व है।

आशा है कि आपका सहयोग इस प्रयास में मिलता रहेगा। आप हमें अपनी रचना डाक या ई-मेल से भेज सकते हैं।

वह पौने दो बरस लंबी रात

प्रियदर्शन

इमरजेंसी के 40 साल पूरे हुए तो प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने बिल्कुल दुरुस्त याद किया कि 40 साल पहले कैसे एक व्यक्ति की इच्छा के लिए पूरे देश को जेलखाने में बदल दिया गया था। इमरजेंसी की 19 महीने चली लंबी वह रात बहुत सारे लोगों के लिए एक दु:स्वप्न में बदल गई थी। लोगों के मौलिक अधिकार स्थगित थे, उन्हें जेलों में ठूंसा जा रहा था, संविधानेतर शक्तियां देश चला रही थीं, लोगों की जबरदस्ती नसबंदी की जा रही थी, नेता, सामाजिक कार्यकर्ता और पत्रकार सलाखों के पीछे भेजे जा रहे थे, प्रेस पर सेंसरशिप लगी हुई थी और डरा हुआ देश देख रहा था कि किस तरह गुलामी का दौर लौट आया है।

लेकिन उन 19 महीनों के आधार पर इंदिरा गांधी को खलनायक बताने वाले लोग कई तथ्य जान-बूझ कर भूल जा रहे हैं। पहली बात तो यह कि 15 साल प्रधानमंत्री रहने वाली इंदिरा गांधी ने बेशक भारतीय लोकतंत्र के सामने एक बड़ा खतरा पेश कर दिया, लेकिन अंतत: रास्ता उन्होंने लोकतंत्र का ही चुना। उनको उनके द्वारा घोषित चुनावों से ही हटाया गया और उन्होंने बेझिझक जनमत को मंजूर किया। दूसरी बात यह कि महज तीन साल बाद वे लोकतंत्र के रास्ते से ही वापस भी लौटीं। दिलचस्प यह भी है कि इमरजेंसी के दौरान सरसंघचालक बाला साहेब देवरस ने इंदिरा गांधी को माफी की कई चिट्ठियां लिखीं और आपातकाल का समर्थन किया। इन दिनों बीजेपी के सांसद और बड़े नेता सुब्रह्मण्यम स्वामी ने तो सन् 2000 में लिखे एक लेख में दावा किया है कि अटल बिहारी वाजपेयी ने भी माफी मांग ली थी और इसके बदले ज्यादातर समय में वे पेरोल पर आजाद रहे थे।

मगर इन सबसे ज्यादा अहम बात दूसरी है। इन चालीस वर्षों में भारतीय राजनीति की गंगा-जमना और नर्मदा में इतना पानी बह गया है कि सारे पुराने समीकरण बदल गए हैं। कांग्रेस की इमरजेंसी जिन लोगों ने झेली, वे अब कांग्रेस के ही साथ खड़े हैं। लालू-नीतीश-शरद तीनों एक ही पाले में दिखते हैं। दूसरी तरफ इमरजेंसी के दौरान संविधानेतर सत्ता के सबसे बड़े सूत्रधारों में एक मेनका गांधी अपने बेटे के साथ भाजपा में शामिल हैं। लेकिन बेशक, इसी कारण से यह कहना अन्याय होगा कि किसी को इमरजेंसी की आलोचना का हक है या नहीं है। मूल बात यह है कि इमरजेंसी की बात करते हुए हम सबको इन चालीस वर्षों के बदलावों पर भी नजर रखनी होगी और ठहरावों पर भी, कुछ प्रवृत्तियों के खात्मे पर भी और कुछ की वापसी पर भी।

क्योंकि वे कोई और दिन थे जब न जीवन में आज जैसी रफ्तार थी, न पत्रकारिता में। राजनीति और दुनिया की कुछ हलचलों के बीच सोया-सोया सा समाज चलता था, मंथर गति से ख़बरें चलती थीं। वह हिंदुस्तान के धीरे-धीरे चलने और बनने के दिन थे। लेकिन वह सोई-सोई सी दुनिया फिर भी आज के मुक़ाबले ज्यादा जागी हुई थी। वह अपने नेताओं को पहचानती भी थी, पूजती भी थी, लेकिन नाराज़ होने पर बदल डालने का हौसला भी रखती थी। यह सच है कि इमरजेंसी की पहली चोट के साथ वह सहम कर चुप हो गई। लेकिन इमरजेंसी के पहले और बाद इसी सोई-सोई दुनिया ने ऐसी अंगड़ाई ली थी, जिससे सत्ताएं थरथरा गई थीं। जैसे 1975 के देश को यक़ीन नहीं था कि इंदिरा गांधी इमरजेंसी लगा देंगी वैसे ही 1971 की इंदिरा गांधी ने सोचा नहीं होगा कि ये देश एक दिन उनका ताज उछाल देगा उनका तख़्त गिरा देगा। 1977 की जो ख़ामोश क्रांति हुई, उससे दुनिया के लोकतांत्रिक इतिहास का एक बेहतरीन दृश्य बना। ये अलग बात है कि महज तीन साल के भीतर उस जनक्रांति के साथ उसके नेताओं ने धोखा किया। उस धोखाधड़ी के सबसे बड़े जिम्मेदार लोगों में एक लालकृष्ण आडवाणी ने इसी जून में इंडियन एक्सप्रेस को दिए एक साक्षात्कार में कहा कि इमरजेंसी जैसे हालात लौट सकते हैं, क्योंकि उसे रोकने की जो लोकतांत्रिक मशीनरी संभव थी, वह हमने विकसित नहीं की। आडवाणी को आज इमरजेंसी का वह ख़तरा फिर से अगर याद आ रहा है तो इसके पीछे भले उसकी अपनी राजनीतिक मायूसी हो, लेकिन यह ज़माने का भी सच है।

इस बात के बावजूद कि इन चालीस बरसों में हिंदुस्तान कछुए से खरगोश बन चुका है और मीडिया अपनी दैनिक या साप्ताहिक लय को पीछे छोड़कर बिल्कुल चौबीस घंटे चलने वाली ऐसी चक्की बन चुका है, जिसमें दुनिया पिसती रहती है और ख़बरें निकलती रहती हैं, हम एक ज़्यादा बेख़बर और असुरक्षित मुल्क हैं। सबकी फिक्र करने वाला,

पास-पड़ोस का ख्याल रखने वाला, और देश और दुनिया को अपना फर्ज़ समझने वाला मध्यवर्ग खत्म हो चुका है और उसकी जगह एक ऐसा आक्रामक उपभोक्ता वर्ग पैदा हो चुका है जो सिर्फ अपने खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने की सोचता है और किसी भी तरह की हिंसा, गैरबराबरी और नाइंसाफी की धूल अपनी त्वचा पर पड़ने नहीं देता।

इसी दौर में मीडिया पर पूंजी का कब्ज़ा पहले से कहीं ज़्यादा मजबूत है और समांतर आवाजें पहले से ज़्यादा दबी हुई हैं। ऐसे समय में देशभक्ति का मतलब दुनिया में ताकतवर होने की हसरत भर है, विकास का मतलब कुछ लोगों के लिए समृद्धि भर है और नेतृत्व का मतलब आक्रामक तेवर में की गई बयानबाज़ी भर है।

विचारहीनता के इस दौर में फिर ऐसी व्यक्ति पूजा शुरू हो रही है जिसमें न उचित आलोचना की जगह है और न असहमति की। लोकतांत्रिक संस्थाएं या तो खत्म की जा रही हैं या बेमानी बनाई जा रही हैं। दलित-आदिवासी और अल्पसंख्यक लगातार किनारे किए जा रहे हैं और खुदकुशी और गरीबी के विकराल आंकड़े देखने को कोई भी तैयार नहीं है।

यही वह हालात होते हैं जिसमें कोई नेता खुद को लोकतंत्र का पर्याय समझने लगता है। पहले वह उम्मीद जगाता है, फिर अपनी नाकामियां लोकतंत्र पर थोपता है और फिर अंत में इमरजेंसी लगाता है- ये अलग बात है कि अंत में वो भी मारा ही जाता है। लेकिन इतिहास की इस गलती को हम न दोहराएं- इसके लिए जरूरी है कि अपने लोकतंत्र पर लगातार नजर रखें, अपने नेताओं के हमेशा इम्तिहान लेते रहें।

वार्ता यहाँ से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-221002, फोन: 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला-धनबाद, झारखंड-828116, फोन: 09835131638
- लिंगराज समता भवन, बरगढ़, ओडिशा-768028, फोन: 09437056029
- जे.पी.सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला-बलिया, उत्तर प्रदेश, फोन : 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्यसाहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फर, बिहार-845401, फोन : 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं. 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छितौनी, मोतीहारी, बिहार-845401, फोन : 09430947277
- चंद्रभूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, राँची, झारखंड-834001, फोन : 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4 वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी-221002 फोन : 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार-845438, फोन : 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन : 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महद्दीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला-रोहतास, बिहार-821115, फोन : 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वार्टर नं. 589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड - 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड-263601, फोन : 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लाक, खूंटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड- 831011, फोन : 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियर छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन : 09013002488
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो. रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार-845106
- रोशनाई प्रकाशन, 212 सी.एल./ए.,अशोक मित्र रोड, काँचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, पं. बंगाल-743145, फोन : 033-25850249
- कश्मीर उप्पल, एम.आई.जी.-31, प्रियदर्शिनी नगर, इटारसी (म.प्र.) 461111, फोन : 09425040457
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला-होशंगाबाद, म.प्र. फोन : 09425608762
- तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कांपलेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर-452003, फोन : 09826011413

संपन्नता या लूट : वैश्विक खनन उद्योग का असली चेहरा

समरेन्द्र दास एवं मिरियम रोज़, फ्वायल वेदांता

फ्वायल वेदांता लंदन आधारित एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। हमारा उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिक सक्रियता का अभियान चलाना है, जिससे वेदांता और ऐसी ही अन्य खनन कंपनियों के वास्तविक रूप का खुलासा किया जा सके। वेदांता के जी एम एवं जांबिया में कापर की लूट के बाद हम जांबिया गए, वहाँ विरोध अभियान चलाया गया, जिससे जांबिया की खनन नीति में बदलाव आया। इस रपट को हमारी वेबसाइट www.foilvedanta.org पर देखा जा सकता है।

खनन का इतिहास : वैज्ञानिक आज तक पूरी तरह यह नहीं समझा पाए हैं कि धरती की सतह पर मूल्यवान धातु कैसे जमा हुई। अघतन सिद्धांत यह है कि धरती के बनने (4.3 बिलियन वर्ष पूर्व) के बीस करोड़ वर्ष बाद बड़ा बड़ा उल्का पात हुआ और ये मूल्यवान धातु धरती में मिल गए। धरती का पटल मुख्यत: आक्सीजन (47%)एवं सिलिकान (28%) से बना है। इसके बाद एल्यूमिनियम (8%) एवं लोहा (5%) है। अन्य धातुएँ अत्यंत कम हैं। ताँबा 0.01%, जस्ता 0.004%, सीसा 0.002%, टिन 0.001%, थोरियम 0.001%, यूरेनियम 0.0004%, सिल्वर 0.00001%, एवं स्वर्ण 0.000001% है। इन प्रतिशत का बहुत थोड़ा हिस्सा ही घनत्व में पाया जाता है, जिसे निकालना आर्थिक रूप से फायदेमंद हो।

दूसरे शब्दों में धातुएँ हमारी धरती पर अत्यंत कम एवं मूल्यवान हैं और इनका कोई विकल्प नहीं है। इसके बावजूद औद्योगिक स्तर पर खनन के सिर्फ एक शताब्दी बाद अर्थात 2014 के ही आंकड़ों के अनुसार धातुओं को निकालने की गति एवं मात्रा इतनी ज्यादा है कि अगले कुछ दशकों में ही अधिकांश धातुओं के खत्म होने की संभावना व्यक्त की गई है। उदाहरण के तौर पर ऐतिहासिक रूप से (2014 तक) 1.1 एवं 1.9 अरब टन एल्यूमिनियम निकाला गया। इसकी मौजूदा दर 40-46 अरब प्रति वर्ष है। अगले 20-40 वर्षो में शेष 8 अरब टन का प्रयोग किया जाएगा।

बाक्साइट भरे हुए जंगल एवं पहाड़ पर विचार करते हुए उड़ीसा के पूर्वी घाट, कचाईपदर गाँव डेका के संगीतज्ञ सल्लू माझी का यह कहना 'मेरे अत्यंत चालाक दोस्तों, 25 वर्ष में ही सब खत्म कर डालेंगे?' उनके समुदाय की पीड़ा को उजागर करता है।

विकास के आधुनिक सिद्धांत का समर्थन करने वाले विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं संयुक्त राष्ट्र का यह मानना है कि मानव जाति के उद्‌भव (विकास) का सीधा रिश्ता उनके द्वारा किए गए खनन स्रोतों की खपत से जुड़ा हुआ है। यूरोप और अमरीका के मानक के अनुसार विकास की प्रगति का आकलन प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष धातु की खपत की मात्रा से किया जाता है। इसका लक्ष्य 15-35 किग्रा. अल्यूमिनियम, 300 किग्रा. इस्पात इत्यादि है। खनिज स्रोतों के साथ ही खनन को भी देशों के आर्थिक विकास के अनिवार्य तत्व एवं अपरिहार्य कार्य के रुप में बढ़ावा दिया जाता है। रोजगार निर्माण, आयकर में योगदान एवं राष्ट्रीय आत्म निर्भरता में इसकी भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता है। इन लोगों के लिए केवल यही मुद्दा है कि कैसे इस उद्योग की वैधता एवं छवि में सुधार किया जाए। इसी भाव से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि यह एक खराब व्यवसाय है।

पर्यावरण की दृष्टि से देखें तो खनन अनिवार्यत: उस स्थल की हत्या करना है, सोच-समझकर प्रशासनिक रुप से एक विशेष क्षेत्र का विनाश करना है। आधुनिक इतिहास में चालू 'स्थल हत्या (टापोसाइड) को मानव केंद्रित सभ्यता का नाम दिया जाता है,ऐसी सभ्यता, जिसमें भूविज्ञान प्रकृति पर मनुष्य के प्रभाव के कारण असंतुलित हो गया है।

आधुनिक खनन की जड़ें

धातुओं की खोज और खनन का कार्य नवप्रस्तर काल से जी जारी है। अजटेक अपने सोने के लिए प्रसिद्ध हुए, बाद में रोमन अपने टिन एवं शीशा (लेड) के लिए। लेकिन 1800 ई. के पूर्व तक बड़े पैमाने पर खनन का कार्य शुरु नहीं हुआ था।

अमरीका का पहला बड़ा लौह खदान मेसाबी पर्वत था। यह पर्वत लेक सुपिरियर के चारों तरफ था। स्थानीय लोग इसे 'मेसावी वाजिब' कहते थे, जिसका अर्थ है विशालकाय पर्वत। इस खदान का कार्य कार्नेगी एवं राकफैलर मूलत: 'लुटेरे सामंतों' द्वारा किया गया। माना जाता है कि इन प्रारंभिक पूँजीवादियों ने श्रमिकों एवं समुदाय की कीमत पर धन इकट्ठा किया। अमेरिका के 'श्रेणी समाजवाद' युग में यहीं से पेसिफिक रेलवे एवं सिविल वार के लिए इस्पात उपलब्ध कराया गया। बाद में अमेरिका के लिए पेन्सिलवेनिया के कोयला के साथ ही ये खनिज भी महत्वपूर्ण हो गए।

लौह खनिज एवं युद्ध के बीच के संबंध को प्रथम विश्व युद्ध के बाद पहचाना गया, जब 1919 में यह घोषणा की गई कि किसी भी एक देश के पास लोहा एवं कोयले का एकाधिकार न हो, जिसके लिए जर्मनी ने फ्रांस के अल्साक लोरेन क्षेत्र को कब्जा किया था क्योंकि इससे हथियारों का संग्रह होगा, जिसे युद्ध का आंशिक कारण माना जाता था।

मेसावी के अच्छी श्रेणी का लौह खनिज 1952 में समाप्त हो गया। इसी वर्ष लैंग हेनकाक ने पश्चिमी आस्ट्रेलिया में पिलबारा क्षेत्र में समृद्ध लौह खनिज की खोज की। यहाँ पर आदिवासी आबादी 40-50 हजार वर्ष से रह रही थी। पिलवारा शब्द न्यामल एवं बैनिजिमा भाषा का है, जिसका अर्थ होता है 'सूखा क्षेत्र'। 1960 में पिलबारा के खनिज को 24 अरब टन का सबसे बड़ा खनिज क्षेत्र माना गया। 2010 में आस्ट्रेलियन ब्यूरो ऑफ एग्रीकल्चरल एंड रिसोर्स एकोनामिक्स' के अनुसार इस स्रोत का इस्तेमाल 324 करोड़ टन प्रति वर्ष की दर से किया जा रहा था और यह आशा की जा रही थी कि 30 से 56 वर्ष के बीच खत्म होगा। पिलबारा में आदिवासी समूहों एवं आस्ट्रेलिया सरकार के बीच विवाद चल रहा है। यहाँ पहली बार मिंदीबार्नडी जैसे स्थानीय लोग अपनी पवित्र भूमि के खनन के लाभ में अपना हिस्सा मांग रहे हैं। दूसरा भय यह है कि मेसावी की तरह ही खनिज खत्म होने के बाद पिलबारा के प्रवासी श्रमिक शहर को छोड़ जाएंगे और यह निर्जन क्षेत्र हो जाएगा। खनिज वैज्ञानिक आज 'नए पिलबाराज' के बारे में बात करते हैं। ग्रीनलैंड की पिघलती हुई बर्फ के नीचे, पश्चिम अफ्रीका के लौह अयस्क और यहाँ तक कि धातुओं की चट्टानों अथवा धरती की बाह्य सतह पर पड़े हुए उल्का टुकड़ों को भी वे नए पिलबाराज के रूप में देखते हैं।

खनन एवं संसाधनों का दोहन उपनिवेशवाद से जुड़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं से पोषित आज के कार्पोरेशन इस परंपरा के सीधे वाहक हैं, जिसे 'नव उपनिवेशवाद' कहा जा रहा है। जांबिया में ब्रिटिश साउथ अफ्रीकन कंपनी ने उत्तरी रोडेशिया में इसके ताँबा खदानों पर 1924 तक अर्धसैनिक बलों के बूते प्रभुत्व किया। इसके बाद यह क्षेत्र सीधे ब्रिटिश शासन के अधीन हो गया, लेकिन 1947 तक जांबिया रेलवे पर कंपनी का मालिकाना हक बना रहा। इसके साथ ही खदान पर हक भी 1964 तक यानी जांबिया के आजाद होने तक बना रहा। 1965 में जांबिया अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ जुड़ा। जब खनन से राजस्व बढ़ाने के लिए जेरे, पेरु और चिली के साथ ताँबा उत्पादक संघ बनाने का इसका प्रयास विफल हो गया तब वे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक द्वारा 'संरचनात्मक समायोजन' के माध्यम से सभी ताँबा खनिजों का निजीकरण करने के लिए विवश हो गए। आज ताँबा तेजी से देश से बाहर जा रहा है, विदेशी कंपनियाँ एवं उनके अंशधारकों को बड़े पैमाने पर मुनाफा हो रहा है। जबकि, जांबिया गरीबी का अभिशाप सह रहा है और उसकी औसत जीवन प्रत्याशा 37 वर्ष है।

इस लेख में खनन से जुड़े महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार किया जाएगा। मुख्यत: तीन प्रमुख धातुओं लोहा व इस्पात, एल्यूमिनियम एवं ताँबा पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा। हम खनिज स्रोतों के मूल्यांकन, खनन एवं उपनिवेशवाद के बीच संबंध, संघर्ष एवं युद्ध, कीमत एवं बाजार का समीकरण, कराधान की समस्या एवं रायल्टी प्रणाली, खनन जनसंपर्क तंत्र, खनन कंपनियों के पीछे के वास्तविक हित और हाल के कुछ सबसे खराब खनन घोटालों की चर्चा करेंगे।

खनन एवं बाजार

हाल के वर्षो में 'संसाधन अभिशाप' के सिद्धांत ने गहरी विश्वसनीयता हासिल की है। समादृत शिक्षाविद् पाल कोलियर एवं माइकेल रोज जैसे लोगों ने सैद्धांतिक तौर पर स्पष्ट किया है कि कैसे प्राकृतिक रूप से संसाधन संपन्न देश अथवा क्षेत्र भ्रष्टाचार, कुशासन, असमानता एवं राजनीतिक हिंसा के चलते प्राय: विफल राज्य बन जा रहे हैं। उन्होंने कराधान के माध्यम से पारदर्शिता एवं राजस्व बढ़ाने की संस्तुति की है। हमारा मत है कि इस सिद्धांत में स्थानीय सरकार की भूमिका पर ज्यादा जोर दिया गया है। यह सिद्धांत असमान स्थिति पैदा करने में स्वामित्व के मुद्दे और नियंत्रित संरचना (अंशधारक इत्यादि) एवं आक्रामक अन्तर्राष्ट्रीय नीति एवं वित्त को भी जिम्मेदार नहीं मानता। इस हिस्से में हम यह दिखाएंगे कि कैसे खनन कंपनियों द्वारा धातु के मूल्यों के निर्धारण एवं करों में हेर-फेर किया जाता है। कैसे ये कंपनियाँ एकाधिकार, कीमत निर्धारण, तंत्र, गठजोड़ निर्माण के माध्यम से मांग को बढ़ाने, निर्माण का कार्य करती है एवं राष्ट्रीय कोष तथा स्थानीय समुदाय के नाम पर अधिकतम व्यक्तिगत मुनाफा कमाने में सक्षम होती हैं। इसके अलावा हम आयकर के सामान्य महत्व को भी चुनौती देंगे। हमारा मूलभूत प्रश्न यह है कि संसाधन पर स्वामित्व किसका है और इसका मूल्य कैसे आंका जाए।

गठजोड़ एवं कीमत निर्धारण

यह पूँजीवाद का अन्तर्विरोध है कि जो बहुत जोरदार तरीके से मुक्त बाजार की वकालत करता है, वही प्राय: अपने हित में उसे नियंत्रित करने के लिए सक्रिय रहता है। अमेरीका में सरकार से समर्थन प्राप्त नई कंपनियों ने गठजोड़ बनाया और 1890 के बाद बाक्साइट के मूल्य को यथासंभव न्यूनतम रखा। अभी हाल में 1994 में (इस समय तक संरक्षणवाद को नैतिक रुप से गलत और पूँजीवाद विरोधी माना जाता था) एक कंपनी एल्कोआ के प्रमुख पाल ओ नील ने रुस को सैन्य प्रयोग में आने वाले एल्यूमिनियम को अधिक मात्रा में बाजार में उतारकर अमेरिका की कीमतों को प्रभावित करने से रोकने के लिए अमेरिका द्वारा नियंत्रित गठजोड़ बनाया। इस गठजोड़ का उद्देश्य प्रत्येक देश को कोटा देकर आपूर्ति को सीमित करना था। ओ नील बाद में जार्ज डब्ल्यू बुश के अधीन ट्रेजरी सेक्रेटरी बने। गोल्डमैन सैक्स बैंक ने अपने 'भावी बाजार' के लिए अपने गोदामों के नेटवर्क में दुनिया में उपलब्ध एल्यूमिनियम का एक चौथाई सुरक्षित कर लिया। इन गोदामों की वजह से इनकी कीमतों को नियंत्रित करने की सुविधा प्राप्त हो गई। अलग-अलग समय में इन धातुओं की आपूर्ति अपने हिसाब से कम या ज्यादा की गई। इससे बैंक भावी बाजार के आकलन के आधार पर भारी मुनाफा कमाने में सक्षम हो गया। गोल्डमैन सैक्स के एल्यूमिनियम ने बाद में बाजार से करोड़ो डालर का मुनाफा कमाया और बाजार के छलछद्म से इसकी कीमतें बहुत बढ़ गई।

जे.पी मार्गन, गोल्डमैन सैक्स एवं विश्व की सबसे बड़ी निवेश कंपनी ब्लैकरॉक इस समय एक साथ काम कर रही हैं और उपलब्ध तांबे का 80% निवेशकों की ओर से खरीदने और उसे अपने गोदामों में रखने का प्रयास कर रही हैं। इससे तांबा का भावी बाजार बनेगा।इससे ये कंपनियां सट्टेबाजी में, बाजार में हेर-फेर करने में ऋण एवं कोप का समर्थन पाने में सक्षम होंगी। 2010 में जे.पी.मार्गन ने गोदाम में रखे तांबे के आधे से ज्यादा तांबे को बाजार में उतार दिया, जिससे तांबों की कीमतों में उठापटक हुई।

दुनिया की सबसे बड़ी लौह अयस्क कंपनी बी.एच. पी. बिलिटन एवं रियो टिंटो वस्तुत: लौह अयस्क की वैश्विक कीमतों पर नियंत्रण रखती हैं। यह आशंका व्यक्त की जा रही है कि लौह अयस्क की वर्तमान कम कीमत आंशिक रुप से बी.एच.पी. एवं रियो कंपनियों की नीति के कारण है। इन्होंने अपने अयस्क के उत्पादन को आक्रामक रुप से तेज किया है, विश्व बाजार में ज्यादा माल छोड़ दिया है और कीमतों को दबा दिया है। कम कीमतों से प्रतिस्पर्द्धी या तो बाजार से बाहर हो जाएंगे या अपनी खदानों को बेचने पर विवश होंगे, जबकि बी.एच.पी. एवं रियो कम लागत के चलते कीमत का तूफान लाने में सक्षम हैं। हाल ही में आर्सेलर मित्तल एवं टाटा ने लौह अयस्क के साथ अन्य व्युत्पन्न अयस्कों को इकट्ठा करना एवं बेचना शुरु किया है। इसका बाजार अगले वर्ष तक 1 अरब टन पहुँचने की संभावना है, जबकि वास्तविक समुद्री लौह अयस्क का व्यापार प्रतिवर्ष 1.3 अरब टन होता है। सह उत्पन्न अयस्कों का बाजार तंत्र अत्यंत जटिल है, जिसमें जोखिम बीमा, भावी खरीद फरोख्त एवं बाजार की अन्य विकृतियाँ शामिल हैं।

कार्पोरेट की इन आक्रामक नीतियों से अपरिहार्य रुप से प्राकृतिक संसाधन अत्यंत कम लोगों की मुट्ठी में कैद हो रहा है। ये लोग धीरे-धीरे वैश्विक आपूर्ति कीमत

निर्धारण एवं खनन नीति के निर्धारण में सक्षम होते जा रहे हैं। रियो टिंटो ने 2008 में कनाडा की एल्यूमिनियम कंपनी को 38 अरब डालर में खरीद लिया। बी.एच.पी. लिमिटेड विश्व की सबसे बड़ी खनन कंपनी बनने के लिए 2001 में 11 बिलियन डालर के लेन-देन के साथ बिलिटन पी.एम. सी. के साथ मिल गई। वैले ने 2006 में 18 अरब डालर में इन्को लिमिटेड को खरीदा एवं फ्रीपोर्ट मैकमोरन कापर एंड गोल्ड इन कार्पोरेशन ने 2007 में 23 अरब डालर में फेल्स डाज को खरीदा। आज लौह अयस्क खनन की तीन बड़ी कंपनियां है- रियो टिंटो, बी एच पी बिलिटन एवं वेले। समुद्री लौह व्यापार के लगभग 70% हिस्से पर इन्हीं का कब्जा है।

आधा अधूरा छोड़ दिया गया। बाक्साइट खनन करने वाले देशों को कहा जा रहा था कि उनका खनिज बेकार है। 2014 में चीन की आर्थिक गिरावट ने शीर्षस्थ खनन कंपनियों को 200 अरब डालर का नुकसान पहुँचाया।

लौह खनिज के मामले में चीन में आया उछाल आंशिक रुप से 2008 में हुए ओलंपिक खेल के दौरान निर्माण कार्य में तेजी के चलते था। भारत ने उस समय अपने निर्यात का 91: प्रतिशत इस्पात चीन को बेचा था। अब इस बात के दस्तावेजी सबूत है कि बड़ा मुनाफा कमाने के लिए निजी कंपनियाँ कानून का उल्लंघन कर रही है। सामाजिक एवं पर्यावरणीय प्रभावों की अनदेखी कर रही हैं। शाह आयोग ने ओडिशा एवं गोवा में लौह खनिज एवं मैगनीज खनन की

उछाल एवं गिरावट

धातुओं की बाजार आधारित वैश्विक कीमतों में अत्यधिक अस्थिरता से कोई विजेता बन जाता है तो कोई पराजित। उदाहरण के लिए जुलाई 2008 में एल्यूमिनियम की कीमत 3,291 डालर प्रति टन पहुँच गई थी, 2009 में यह गिरकर 1,300 डालर प्रति टन पहुँच गई। दाम में गिरावट के चलते रियो टिंटो कंपनी को 25 अरब डालर की क्षति हुई, जबकि इसके ठीक पहले उसने अपनी प्रतिस्पर्द्धी कंपनी एल्कन को खरीदा था। एल्कन ने उस सौदे में 38.1 अरब डालर बनाया था। इसके बाद उसे

जाँच की है। कर्नाटक में लोकायुक्त की जाँच रिपोर्ट में यह उद्घाटित हुआ है कि बड़े पैमाने पर अवैध खनन किया जा रहा है। पर्यावरण संरक्षण एवं वन संरक्षण अधिनियम का उल्लंघन किया जा रहा है। उल्लंघन करने वालों में स्थानीय अधिकारी, राज्य के अधिकारियों के साथ ही पर्यावरण एवं वन मंत्रालय भी शामिल है। राज्य एवं राष्ट्रीय कोष को लाखों डालर कर का नुकसान हुआ एवं सुरक्षित लौह अयस्क बड़े पैमाने पर खत्म हुआ।

गोवा में छोटे से राज्य का 18% हिस्सा, जो अधिकांशतः हिस्सा पश्चिमी घाट पहाड़ से बना है, खनन गतिविधियों

के चलते क्षतिग्रस्त हो गया है। वहाँ 6 करोड़ 60 लाख टन प्रतिवर्ष खनन के लिए 182 लाइसेंस बाँट दिए गए और वास्तविकता यह है कि खनन इससे भी ज्यादा किया जा रहा है। राजकोष को 5 अरब डालर कर की क्षति हुई। 2011 में लौह अयस्क खनन की जो दर थी, उस दर से 9 वर्ष में ही पूरा लौह उपयोग में आ जाता। 90 खनन लीजों से मात्र पाँच-छः परिवार लाभान्वित हो रहे थे। भारी लेन-देन करके अन्य दूसरी लीजों को व्यक्तियों से बड़ी कंपनियों को दिया गया। वेदांता सेसा गोवा, गोवा लौह अयस्क की लगभग 50% निर्यात कर रही थी। इस बीच सिर्फ एक गाँव में खनन विरोधी ग्राम वासियों पर 1600 मुकदमें दर्ज किए गए।

कर्नाटक में बेलारी क्षेत्र 'कानूनविहीन गणतंत्र' बन गया। यहाँ प्रतिवर्ष 8 करोड़ 20 लाख टन लौह अयस्क निकालने की अनुमति दी गई और इस पर पूरा नियंत्रण खनन सामंतों एवं राज्य सरकार के मंत्री रेड्डी बंधुओं का था। हजारों लोग खेती और घर से वंचित हो गए। धूल एवं प्रदूषण से भरे हुए खेतों में कुछ भी पैदा नहीं हो सकता था। अंततोगत्वा जब खनन प्रतिबंधित कर दिया गया तो हजारों लोग खेती की अपनी पुरानी जीविका की ओर लौट आए। रोचक बात यह है कि प्रतिबंध के बाद राज्य का राजस्व बढ़ गया। इसी से लूट के स्तर का पता चलता है। ओडिशा में अनुमानतः 48 अरब डालर का खनन घोटाला हुआ है और मुख्यमंत्री नवीन पटनायक ने कर क्षति में 9.6 अरब डालर का बीजक (इनवायस) जारी किया है।

कर अन्याय

प्राकृतिक संसाधन संपदा से आर्थिक लाभ पर बहस हमेशा रायल्टी एवं कराधान की अवधारणा पर ही केंद्रित रही है। टैक्स जस्टिस नेटवर्क एवं एक्सट्रैक्टिव इंडस्ट्रीज ट्रांसपैरेन्सी इनिशिएटिव जैसे गैर सरकारी संगठन का प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय अभियान 'किरायेदारी' की अवधारणा को आगे बढ़ा रहे हैं, कर राजस्व में मामूली वृद्धि के लिए लाबिइंग कर रहे हैं और प्रारंभ में ही खनिज संसाधनों के मूल्यांकन एवं स्वामित्व जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों को नजरअंदाज कर रहे हैं। भारत में खनन कंपनियां लौह अयस्क की बिक्री मूल्य का दस प्रतिशत रायल्टी देती हैं। वस्तुतः रायल्टी अपने आप में औपनिवेशिक अवधारणा है, जिसका मूल अर्थ यही है कि किसी भी सेवा के लाभ का कुछ प्रतिशत राज्यकोष में जमा किया जाए। ग्रेनाइट खनन के लिए कम रायल्टी एवं अन्य किराया दर के मामले में एक विवाद के दौरान 1993-94 में भारतीय अदालत द्वारा रायल्टी की प्रासंगिकता को चुनौती दी गई।

दुनिया के आठवें सबसे बड़े तांबा उत्पादक देश जांबिया में वेदांता की आनुषंगिक कोंकोला कापर माइन्स जैसी खनन कंपनियां केवल 0.6% की दर से रायल्टी का भुगतान करती हैं। रायल्टी का यह प्रतिशत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं क्लीफर्ड चांस द्वारा विचार विमर्श के बाद गोपनीय 'विकास समझौते' में 20 वर्ष के लिए (के.सी.एम के मामले में 2018 तक) निर्धारित किया गया है। जांबिया

सुषमा स्वराज खनन सामन्त रेड्डी बन्धुओं के साथ

सरकार इस समय इस दर को 6% तक बढ़ाने का प्रयास कर रही है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं खनन कंपनियां इसका तीव्र विरोध कर रही हैं। इससे भी बुरी बात यह है कि अनेक तांबा खनन कंपनियां अपने लाभ का न तो प्रकाशन करती हैं, न ही वास्तविक आयकर अदा करती हैं। वेदांता के सी.एम. ने दावा किया कि जांबिया में उन्हें घाटा हो रहा है (जबकि वैश्विक कापर कीमत 7000 डालर/टन से ज्यादा है) और उन्होंने लागत कम करने के लिए 2000 कर्मचारियों को हटाने का प्रयास किया। इसी वर्ष जनवरी में वेदांता के स्वामी अनिल अग्रवाल ने बैंगलोर में जैन इंटरनेशनल ट्रेड आर्गनाइजेशन के सम्मेलन में आत्ममुग्ध होकर बताया कि कैसे उन्होने एक वर्ष में के. सी.एम. से 50 करोड़ डालर और एक अरब डालर के बीच बनाए। फ्वायल वेदांता ने उनके इस वीडियो को जारी कर दिया। इसके बाद अनेक स्थानों से विरोध हुआ। कंपनी की अंदरुनी जाँच के बाद यह बात खुल कर आई कि कैसे वेदांता ने करापवंचन किया। वस्तुत: वेदांता ने अपनी आनुषंगिक कंपनी फ्यूजैरा गोल्ड को घाटे में ताँबा बेचा। इसके बाद इस कंपनी के मालिक अनिल अग्रवाल के बेटे अग्निवेश ने दुबई में इसे भारी मुनाफा लेकर बेचा। इसे अंतरण कीमत कहा जाता है। जांबिया में सामान्यत: एक और गलत प्रचलन यह है कि तांबा के खनन के साथ निकले कोबाल्ट एवं सिल्वर की घोषणा ही नहीं की जाती, इसे अप्रसंस्कृत अयस्क अथवा अपशिष्ट (कचरा) पदार्थ के रुप में बिना किसी टैक्स अथवा रायल्टी के निर्यात कर दिया जाता है। वेदांता के खाता में (जाँच के दौरान जारी) 2013 में 63 लाख डालर का घाटा दिखाया गया है और यहां तक कि के सी एम ने राज्य संचालित ऊर्जा कंपनी कापर बेल्ट एनर्जी कार्पोरेशन का 60 मिलियन डालर की देनदारी चुकता करने से इंकार कर दिया है।

आयकर एवं रायल्टी राजस्व आधारित कराधान प्रणाली है। वित्तीय तंत्र द्वारा उसका खुला उल्लंघन किया जाता है। इनमें से कई गैरकानूनी भी होती हैं, जैसे मूल्य अंतरण एवं टैक्स आश्रय, अयस्क की गलत घोषणा एवं अयस्क निर्यात करने का प्रयोग। औद्योगिक पैमाने पर लूट का एक कारण यह भी है कि सरकार के पास सूचनाओं का अभाव रहता है। हमारा यह मानना है कि जांबिया (भारत की तरह) कभी भी स्वस्थ सौदा नहीं कर पाएगा, जब तक कि वह खनन की मात्रा एवं निर्यातित खनिज की निगरानी स्वतंत्र रुप से नहीं करेगा और उस संसाधन के लिए समुचित मूल्य नहीं तय करेगा।

एक्सट्रैक्टिव इंडस्ट्रीज ट्रांसपैरेन्सी इनिशिएटिव (ई आई टी आई) की स्थापना 2002 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर एवं विश्व बैंक द्वारा की गई। हजारों गैर सरकारी

संगठनों द्वारा इसे प्रोत्साहित किया गया। इसकी स्थापना का उद्देश्य इस क्षेत्र में पारदर्शिता बढ़ाना है। इसके अन्तर्गत कंपनियों को यह कहा जाना था कि वे कर एवं रायल्टी में अपने योगदान को प्रकाशित करें तथा सरकार से यह कहा जाना था कि वे अपनी प्राप्तियों का खुलासा करे, जिससे विसंगतियाँ सामने आ सकें। ई आई टी आई ने खनन कंपनियों द्वारा बड़े पैमाने पर की जा रही धांधली, टैक्स हैवेन (अधिकांशतः ब्रिटेन द्वारा समर्थित) के नेटवर्क, जिसने अनुमानतः 148 अरब डालर की पूँजी प्रति वर्ष अफ्रीका से बाहर जाने में मदद की, पर ध्यान देने की बजाय केवल घरेलू भ्रष्टाचार को इंगित किया और अफ्रीका के राजनीतिज्ञों पर जेबें भरने का आरोप लगाया।

खनन वित्त

अनेक खनन कंपनियां राज्य से तरजीह पाने के लिए अपनी राष्ट्रीयता का भी उपयोग करती है। उदाहरण के लिए वेदांता आर्सेलर मित्तल एवं एस्सार ये तीनों कंपनियां लंदन में पंजीकृत ब्रिटेन की कंपनी हैं, फिर भी यथासंभव भारत में (और अफ्रीका में) लाभ उठाने और प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए अपनी 'भारतीयता' का प्रयोग करते हैं। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपनी विश्वसनीयता बढ़ाने एवं वित्त आकर्षित करने के लिए ब्रिटिश पहचान का इस्तेमाल करते हैं। सच्चाई यह है कि अधिकांश शीर्षस्थ खनन कंपनियों पर नियंत्रण अत्यंत समान और परस्पर संबद्ध अंशधारकों का होता है, जिनकी कोई राष्ट्रीय सीमा नहीं है। इसमें बैंक, निवेशक फर्मे एवं फारेन गवर्नमेंट पेंशन फंड है।

यहाँ तक कि 'इकोनामिक हिटमेन' का एक अत्यंत छोटा समूह, जिसका नाम पहले शायद ही सुना गया हो, कई सबसे बड़े खनन सौदों एवं मोल-तोल कराने में भागीदार रहा है। उदाहरण के लिए वाशिंगटन के लैरी फिंक का नाम है, जिनका नाम प्रभावशाली अमेरीकन ट्रेजरी सेक्रेटरी के रुप में लिया जाता है। इन्होंने दुनिया की सबसे बड़ी संपत्ति प्रबंधन कंपनी ब्लैकराक की स्थापना की एवं उसके प्रमुख हैं। इस समय इसकी संपत्ति 4.1 करोड़ खरब डालर है। यह राशि किसी भी बैंक, बीमा कंपनी अथवा गवर्नमेंट फंड से बड़ी है। इस कंपनी के पास 30 सबसे बड़ी कंपनियों का 50% से ज्यादा का शेयर है, इसमें सभी शीर्षस्थ खनन कंपनियां हैं। इयान हैनम की महत्वपूर्ण भूमिका कुछ बड़ी खनन कंपनियों के सौदों एवं बी.एच.पी. तथा बिलिटन के विलय में रही है। साथ ही लंदन स्टॉक एक्सचेंज में वेदांता एवं एक्सट्रेटा कंपनी को स्थापित करने (लांच करने) में भी इनकी भूमिका है। इस समय वे अफगानिस्तान में खनन को आगे बढ़ाने में लगे हैं। हैनम को अप्रैल 2012 में जे.पी.मार्गन कैजेनोवो के पूँजी बाजार के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देना पड़ा, क्योंकि उनके खिलाफ अंदरूनी सूचना को बाहर कर बाजार को बिगाड़ने का साक्ष्य मिला।

ऐसे लोग भी हैं जो एक साथ बड़े निवेशक उद्योगपति तथा 'लोकोपकारी' की भूमिका में हैं। ऐसे लोगों में जार्ज सोरस का नाम लिया जा सकता है। इनकी भूमिका ज्यादा खतरनाक है, क्योंकि ये दोहरा खेल खेल रहे हैं। खनन के क्षेत्र में निवेश भी कर रहे हैं और शक्तिशाली गैर सरकारी संगठन की परियोजनाओं को ओपन सोसाइटी फाउण्डेशन के जरिये धन भी उपलब्ध करा रहे हैं। इन गैर सरकारी संगठनों का दावा है कि वे खनन कंपनियों को जवाबदेह बना रही है। सोरस ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके पास विशाल आर्थिक क्षमता है, राजनीतिक प्रभाव है, उसके बावजूद वह उदारतावाद एवं खनन पूँजीवाद पर विमर्श की दिशा भी तय कर रहे हैं।

खनन एवं सामग्री प्रवाह

निकासी की गति :

दुनिया की सबसे बड़ी कंपनी बी एच पी बिलिटन ने दिसंबर 2014 में चीन को 1 अरब टन लौह खनिज भेजने का जश्न मनाया। इस अवसर पर मुख्य कार्यकारी एंड्रयू मैकेंजी ने कहा कि चीन को पहला दस लाख टन भेजने में तीस वर्ष लग गए थे, लेकिन 12 वर्षों में ही कंपनी ने अरब का आंकड़ा छू लिया और अगला एक अरब टन केवल अगले पाँच वर्ष में ही निर्यात किए जाने की उम्मीद है। खनिज निकालने एवं निर्यात करने की मौजूदा प्रौद्योगिकी ने निकालने की दर को इतना बढ़ा दिया है कि अगले कुछ वर्षों में ही दुनिया को धातुओं की आपूर्ति खत्म हो जाएगी। वेल का सुपर शिप वैलीमैक्स एक लदान में चार लाख टन खनिज निर्यात करने में सक्षम है।

2005 में भारत की इस्पात नीति का रणनीतिक लक्ष्य था, 'भारत में विश्व स्तर का ऐसा आधुनिक एवं सक्षम इस्पात उद्योग होना चाहिए, जिसमें 2019-20 तक घरेलू उत्पादन प्रति वर्ष 10 करोड़ टन से ज्यादा हो। वस्तुतः 2009-10 में भारत का उत्पादन 21.8 करोड़ टन पहुँच गया

हर एक अमरीकी की जरुरत ....

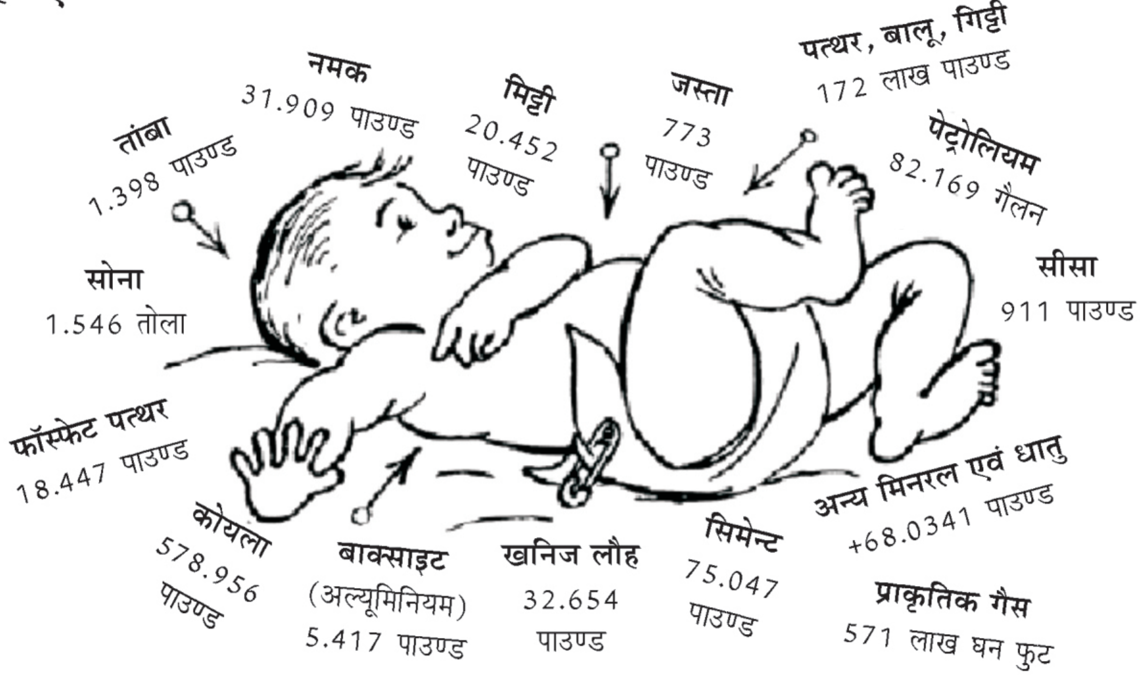

पूरे जीवन काल में 37 लाख पाउण्ड खनिज, धातु एवं ईंधन

था। 2012 की इस्पात नीति में 2025-26 तक संभावित उत्पादन लक्ष्य 27.5 करोड़ टन निर्धारित किया गया है। भारतीय खनिज ब्यूरो ने 2010 में शाह आयोग को यह विशेष जानकारी दी है कि खनन की मौजूदा दर बनी रही तो अच्छी श्रेणी का लौह अयस्क सिर्फ अगले दस वर्षो में खत्म हो जाएगा और संपूर्ण लौह अयस्क अगले 57 वर्षो में खत्म हो जाएगा। यह नीति भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39 के विरुद्ध भी थी। इस अनुच्छेद में कहा गया है, 'समुदाय (होना चाहिए) के सामग्री स्रोतों का नियंत्रण एवं स्वामित्व इस प्रकार संवितरित हो कि इससे सामूहिक हितों की सेवा हो सके, यह कि आर्थिक प्रणाली के संचालन का परिणाम धन एवं उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण न हो, जिससे सामूहिक क्षति हो।'

संविधान में यह भी कहा गया कि राज्य को संसाधन संपत्ति का संरक्षण करना चाहिए और धीरे-धीरे इस प्रकार उपयोग करना चाहिए, जिससे भावी पीढ़ी को भी लाभ मिले। 2008 की खनिज नीति में संविधान के इस आयाम को पुन: परिभाषित करने का प्रयास किया गया है, 'खनिजों के संरक्षण का अर्थ सूदूर भविष्य के लिए बचाए रखने अथवा उपभोग का त्याग करने के निषेधात्मक भाव से नहीं होगा, बल्कि यह एक सकारात्मक अवधारणा है, जिसका अर्थ है, खनन पद्धति में सुधार के जरिये संरक्षित आधार का संवर्धन करना, निचले श्रेणी के खनिजों को उपयोगी एवं लाभकारी बनाना एवं अनुषंगी खनिजों की वसूली एवं अस्वीकृति।'

साफ सवाल यह है कि भारत की इस्पात नीति कौन लिख रहा था? अथवा किसके हित में यह लिखा गया, जबकि इसका एकमात्र उद्देश्य यही मालूम पड़ता है कि यथासंभव अधिक से अधिक खनिज निकासी की क्षमता बढ़े। 2012 की राष्ट्रीय इस्पात नीति के चार मसौदों को उद्योगों को संपादन एवं सहमति के लिए प्रस्तुत किया गया। 2005 की इस्पात नीति में यह दर्ज किया गया कि भारत की इस्पात खपत प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति केवल 30 किग्रा है, जबकि विश्व का औसत 150 किग्रा एवं 'विकसित' दुनिया का 350 किग्रा है। इस नीति में इस बात पर दुख भी व्यक्त किया गया कि गाँव में यह खपत मात्र 2 किग्रा. प्रति व्यक्ति है। इसे 2019-2020 तक 4 किग्रा. प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति तक बढ़ाए जाने के लिए कई 'प्रोत्साहक प्रयास' सुझाए गए। इस कथन से आपूर्ति एवं मांग के विचार का रहस्य खुल जाता है, जिसका प्रयोग कंपनियों द्वारा हमेशा लोगों की आवश्यकताओं को आधारित रुप से बढ़ाने को न्यायसंगत ठहराने के लिए किया जाता है। सच्चाई यह है

कि कंपनियों द्वारा अपने हित में सरकार के साथ मिलकर मांग में हेर-फेर किया जाता है और निर्मित किया जाता है। जैसे ही भारत का घरेलू भंडार या शोषण के लिए 'आंतरिक उपनिवेश' का उपयोग खत्म होगा अथवा नीतियां उद्योगों के पक्ष में कमजोर होंगी, भारतीय कंपनियां नए क्षेत्र, अफ्रीका, ग्रीनलैंड एवं लैटिन अमेरिका के (नव) औपनिवेशिक हिस्सों की ओर मुड़ेंगी। उदाहरण के लिए जिंदल समूह ने अफगानिस्तान में बड़े लौह खनिज का सौदा किया है। इस समूह पर भ्रष्टाचार का आरोप रहा है। सरकारी पैसे से चार कंपनियों का संघ बनाया गया और ये सभी नवीन जिंदल और उनके संबंधियों के स्वामित्व में हैं। मित्तल के ऊपर लाइबेरिया में भी भ्रष्टाचार के आरोप हैं। वहां उन्होंने गृह युद्ध के अंत के पहले 900 करोड़ डालर के लौह खनिज का सौदा किया और इस समय वे कमजोर पारिस्थितिकी तंत्र वाले देश ग्रीनलैंड में 23 अरब डालर के लौह खनिज के खनन का बड़ा सौदा करने की योजना बना रहे हैं। (4 जुलाई 2011)

वास्तविक मूल्यांकनः

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एवं प्रभावित समुदायों की दृष्टि से खनन की वास्तविक कीमत कराधान अथवा निर्यात मूल्य में लाभ-हानि से ऊपर है। धातुओं की वास्तविक कीमत में खनन एवं परिवहन के कारण जल एवं वायु प्रदूषण, खदानों एवं भट्टियों (स्मेल्टर्स) को बंद करने की लागत, स्थानीय आबादी पर स्वास्थ्य प्रभाव एवं असीमित संसाधनों जो भावी पीढ़ियों के लिए उपलब्ध नहीं होगा का खात्मा भी शामिल है। इन्हें ऐसे 'बाह्य तत्व'-वास्तविक है, कीमत के रुप में जाना जाता है, जिसका वहन जनता एवं सरकार अभी कर रही है, भविष्य में भी करेगी, लेकिन इन्हें संसाधन के बाजार मूल्य में शामिल नहीं किया जाएगा। पारिस्थितिकीय अर्थशास्त्री मार्टिन डे विटने 'बाह्य तत्वों' के मूल्य को शामिल करते हुए कापर का वर्तमान वास्तविक मूल्य 33,000 डालर प्रति टन बताया है। यह वर्तमान बाजार मूल्य 6500 डालर प्रति टन से पाँच गुना अधिक है। कीमत इसलिए ज्यादा है, क्योंकि तांबा उत्पादन में अत्यधिक सामग्री तीव्र धातु है। प्रत्येक टन प्राथमिक तांबा के उत्पादन में 500 टन वर्ज्य पदार्थ निकलता है, 260 टन पानी का प्रयोग होता है और 02 टन शुद्ध हवा नष्ट होती है। सारणी-2 में पारिस्थितिकी तंत्र (सामग्री तीव्रता) पर सभी प्रमुख धातुओं का प्रभाव दिखाया गया है और यह भी दिखाया गया है कि वर्तमान निकासी दर (रिजर्व लाइफ इंडेक्स- संरक्षित जीवन सूचकांक) से कितने वर्षों में यह समाप्त हो जाएगा। संसाधन संपन्न राज्यों के लिए धातुओं के वास्तविक पारिस्थितिकीय कीमत को समझना महत्वपूर्ण है। इससे जब उनके संसाधन खत्म हो जाएंगे तब वे आने वाले वर्षो में 'बाह्य तत्वों' के प्रभाव का भुगतान करते रहेंगे।

पारिस्थितिकीय एवं गैर परंपरागत अर्थशास्त्रियों ने ध ातुओं के खनन प्रसंस्करण एवं अपशिष्ट पदार्थो के गंभीर प्रभाव को मात्रात्मक रूप में आकलन का प्रयास किया है। इसके साथ ही इन लोगों ने भावी पीढ़ी के लिए प्रति व्यक्ति उपलब्धता के वैकल्पिक मूल्यांकन पद्धति का भी विकास किया है।

सारणी 2- प्रमुख धातुओं की सामग्री तीव्रता एवं संरक्षित जीवन

सूचकांक : जलवायु-पर्यावरण एवं ऊर्जा वुपरटल संस्थान एवं जे.पी. मार्गन रिजर्व लाइफ इंडेक्स के अनुसार

धातु (प्राथमिक)	अजैव सामग्री टन/टन	जल टन/टन	वायु टन/टन	संरक्षित जीवन सूचकांक (वर्ष)
इस्पात	6.97	44.6	1.3	80-90
एल्यूमीनियम	85.38	1378.6	9.78	20-40
तांबा	500	260	2	125

वास्तविक पारदर्शिता:

वैश्विक सामग्री प्रवाह का सबसे गूढ़ आयाम धातु

अयस्क परिवहन, बिक्री एवं निर्यात स्थल है। प्रायः इन्हें गोपनीय ढंग से बेचा जाता है और 'समुद्र से' इसकी कीमत भी निर्धारित नहीं की जाती है। जांबिया के केंद्रीय सांख्यिकीय कार्यालय की रपट है कि निर्यातित ताँबे का सबसे बड़ा हिस्सा स्विट्जरलैंड पहुँचता है। बहुत थोड़ा हिस्सा चीन पहुँचता है, जबकि वह दुनिया का सबसे बड़ा ताँबा उपभोक्ता है। वास्तव में स्विट्जरलैंड में बड़ी मात्रा में

धातु के पहुँचने का कोई रिकार्ड नहीं था (सच यह है कि यह कहीं और पहुँचता है) लेकिन स्विस एजेंसिया इसकी बिक्री दूसरे खरीदारों को अत्यधिक बढ़ी हुई दरों पर करती हैं। यदि ये कीमतें जांबिया में मिलें तो खनन से उसके राजस्व में 6 गुना से अधिक की वृद्धि हो जाती। वेदांता जांबिया के ताँबा को ट्रेडर अथवा डीलर को अपने यहाँ (आफ गेट) बेचती है और उसे नहीं पता होता कि धातु जाता कहाँ है।

वास्तविकता यह है कि अधिकांश धातुओं का व्यापार औपनिवेशिक परंपरा के अनुसार समुद्र के जरिये ही होता है। यह पूरी तरह अनियमित और रहस्यमय होता है। उदाहरण के लिए प्रदूषण एवं जलवायु परिवर्तन में जहाज से भेजने के योगदान का आकलन हाल ही में किया गया है। यह उद्घाटित हुआ कि सोलह बड़े जहाज उतना ही सल्फर उत्सर्जन करते हैं, जितना दुनिया भर की कारें करती है। वैश्विक शिपिंग का नियंत्रण, इंटरनेशलन मैरीटाइम आर्गनाइजेशन द्वारा किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र का यह प्रमुख निकाय लंदन में है। इसने कार्बन कम करने एवं अन्य विनियामक कार्यक्रमों में भाग लेने से इंकार कर दिया।

समुद्र द्वारा निर्यात की गूढ़ प्रकृति और भारत के लौह अयस्क की लूट का पैमाना उस समय प्रकाश में आया, जब 2009 में लौह अयस्क लादने के बाद दो जहाज डूब गए और किसी मालिक ने उसका दावा नहीं किया। हांगकांग में पंजीकृत पूर्णत: भरा हुआ जहाज एम वी एशियन फारेस्ट जुलाई 2009 में अच्छे लौह अयस्क के साथ मंगलोर में डूब गया एवं मंगोलियन एम.वी. ब्लैक रोज उसी वर्ष 09 सितंबर को ओडिशा में भारी माल वाहक पारादीप बंदरगाह पर डूब गया। बाद में पाया गया कि न तो इनका लाइसेंस था, न बीमा। इन जहाजों का स्वामी कौन था और वे अपनी बहुमूल्य सामग्री के साथ कहाँ जाते?

गोवा में खनन घोटाले का पैमाना पहली बार उस समय सामने आया जब वहाँ के निवासियों ने खनन एवं बंदरगाह से निकल रही ट्रकों एवं नौकाओं को गिनना शुरु किया और गणना में यह पाया कि इसकी मात्रा कानूनी सीमा से बहुत ज्यादा थी। उदाहरण के तौर पर वेदांता की आनुषंगिक कंपनी सेसा गोवा पर आरोप है कि उसने 2010-11 में गोवा से 1.5 करोड़ टन लौह अयस्क का निर्यात किया और घोषणा केवल 76 लाख टन का किया, जितने के लिए उसे निर्यात की अनुमति थी।

राष्ट्रीय सरकार एवं संसाधन संपन्न देशों के नागरिकों को यह जानने का अधिकार है कि कितना मूल्यवान संसाधन निकाला जा रहा है, इसे कहाँ बेचा जा रहा है और किस कीमत पर। इन मूलभूत तथ्यों की सही जानकारी के लिए उन्हें खनन एवं बंदरगाहों की स्वतंत्र आडिट (लेखा परीक्षा) करनी चाहिए। इन सूचनाओं को केवल खनन कंपनियों के हित में एवं उनके लाभ के लिए गोपनीय रखा जाता है।

अध्याय 3- प्रतिष्ठा प्रबंधन
छवि सब कुछ है : खनन जनसंपर्क तंत्र

खनन अनिवार्यत: एक कलंकित व्यवसाय है। जैसा कि आखिरी अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि धाातु उत्पादन (सामग्री तीव्रता) में पारिस्थितिकी पर गंभीर प्रकाश पड़ता है। इसमें जल, वायु और मिट्टी की विशाल मात्रा का प्रयोग होता है और इन्हें प्रदूषित भी किया जाता है। उदाहरण के तौर पर एक टन एल्यूमिनियम के उत्पादन में 82.5 टन विषाक्त अपशिष्ट पैदा होता है, 20.6 टन कार्बन डाई आक्साइड के समतुल्य पैदा होता है और इसके उत्पादन के लिए 13,000 लीटर पानी का उपयोग किया जाता है। इसके अलावा इसके बड़ा सामाजिक प्रभाव विस्थापन के रूप में पड़ता है। विस्थापन का प्रभाव ज्यादातर जंगल और ऐसे सूदूरवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले स्थानीय लोगों पर पड़ता है, जहाँ खनिज पाए जाते हैं। आसपास रहने वाले समुदायों का स्वास्थ्य प्रभावित होता है, परंपरागत जीविका (खेती, मत्स्य पालन इत्यादि) की क्षति होती है। साथ ही खनन में काम करने वाले कर्मचारियों एवं धातु कर्मचारियों की मृत्यु, कम वेतन, संगठन गतिविधियों से संबंधित सुविधाओं एवं अधिकारों के मुद्दे भी हैं। इन कारणों से 'टिकाऊ खनन' की अवधारणा कार्पोरेट विरोधाभास के रूप में दिखाई पड़ती है। पहले खनन उद्योग प्रत्यक्ष रूप से उपनिवेशवाद एवं असमान संपन्नता का वाहक था। अब नई अवधारणा के तहत उसने अपने आपको वैश्विक विकास का महत्वपूर्ण हिस्सा बना लिया। इसीलिए उसे अपनी छवि बदलने की आवश्यकता पड़ी। आज खनन एवं धातु लाबी के पास कुछ अत्यंत शक्तिशाली वैश्विक अभिनेता है, जो विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं राज्य सरकार के साथ-साथ कार्य कर रहे हैं। वे जन संपर्क एजेंसियों, शैक्षणिक संस्थाओं एवं गैर सरकारी संगठनों का प्रयोग कर रहे हैं। ये सभी मिलकर सामुदायिक विकास, रोजगार निर्माण में कंपनियों

के योगदान को रेखांकित कर रहे हैं। साथ ही उन्हें 'टिकाऊ विकास' का पोषक और आधुनिक जीवन के लिए अनिवार्य संसाधन उपलब्ध कराने वाला बता रहे हैं।

इंटरनेशनल काउंसिल आन माइनिंग एंड मेटल (आई सी एम एम) इन उद्योगों के लिए, विशेष रूप से पर्यावरण एवं टिकाऊ विकास के मुद्दे पर लाबीइंग करने वाला महत्वपूर्ण संगठन है। लंदन में स्थित यह संगठन अधिकतर कंपनियों, 30 राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय खनन संघों एवं वैश्विक उपयोगी वस्तु (कमोडिटी) संघों का प्रतिनिधित्व करता है।

टिकाऊ विकास पर विश्व सम्मेलन (वर्ल्ड समिट आन सस्टेनेबल डेवलपमेंट) 2002 में आयोजित किया गया। इसके पूर्व ही 2001 में उद्योगों की प्रतिष्ठा कायम करने के लिए आई सी एम एम का गठन किया गया। 'टिकाऊ विकास' की अवधारणा के कारण ही 1999 में ग्लोबल माइनिंग इनिशिएटिव का गठन किया गया। इसने खनन कंपनियों द्वारा पोषित उद्योग हितैषी शोध परियोजनाओं को जन्म दिया। इसी के तहत इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फार इनवायरमेंट एंड डेवलपमेंट के साथ मिलकर 1 करोड़ डालर की माइनिंग, मिनरल एंड सस्टेनेबुल डेवलपमेंट परियोजना शुरु हुई। इस परियोजना ने विश्व अर्थव्यवस्था एवं रोजगार निर्माण में खनन कंपनियों के योगदान एवं महत्व को रेखांकित किया, साथ ही सामुदायिक समर्थन हासिल करने के लिए 'टिकाऊ विकास' की छवि विकसित करने एवं पारदर्शिता बढ़ाने संबंधी सुझाव भी दिए। 2001 में इंटरनेशनल काउंसिल आन मेटल एंड द एनवायरमेंट (आई. सी. एम. ई.) ने अपनी कार्यसूची में विस्तार करते हुए टिकाऊपन एवं छवि निर्माण को शामिल किया और आई. सी. एम. एम. बन गया।

अन्तर्राष्ट्रीय रुप से मान्यता प्राप्त फ्री प्रायर एंड इन्फॉर्म्ड कांसेन्ट (व्यवसाय के लिए बराबरी के सिद्धांत का एक भाग) के अन्तर्गत संचालन के लिए सोशल लाइसेंस प्राप्त करने की आवश्यकता खनन उद्योग के लिए एक विवादास्पद क्षेत्र है। वेदांता के नियमगिरी पराजय ने यह दिखा दिया कि खनन कंपनियां अपना रास्ता बनाने के लिए कैसे इस प्रक्रिया में तोड़-मरोड़ करती हैं, कैसे प्रक्रिया की दिशा बदल देती हैं और कैसे असंख्य रास्तों की तलाश करती हैं। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि इस मामले में वह समुदाय की इच्छा को अपने वश में करने का प्रबंध नहीं कर पाई। आलोचकों ने इस बात को नोट किया कि परियोजना के लिए वीटों के अधिकार के बिना, जिसे इक्वेटर सिद्धांत में शामिल नहीं किया है, स्थानीय परामर्श प्रक्रिया को वास्तविक सहमति नहीं माना जा सकता।

खनन कंपनियों के जनसंपर्क का बड़ा हिस्सा घूस के रूप में इस्तेमाल होता है। आस्ट्रेलिया में खनन उद्योग द्वारा 2 करोड़ 20 लाख डालर से विज्ञापन अभियान सफलतापूर्वक चलाया गया। इसका उद्देश्य प्रस्तावित रिसोर्स सुपर प्राफिट टैक्स को रोकना था। इसके द्वारा अगले दशक में आयकर राजस्व 250 अरब डालर बढ़ गया होता। यह टैक्स प्रस्ताव खनन कंपनियों के इसी दौर में 60 करोड़ डालर के अनुमानित लाभ को ध्यान में रखकर लाया गया था। खर्चीले जनसंपर्क अभियान से खनन कंपनियों को 160 अरब डालर की बचत हुई।

कार्पोरेट सामाजिक संबंध

कार्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व (CSR) की अवधारणा विशेष रुप से 1992 में रियो समिट वर्ल्ड बिजनेस काउंसिल आन सस्टेनेबल डेवलपमेंट में सामने आई। इस शिखर सम्मेलन के दौरान यह ध्यान दिया गया कि उद्योगों की छवि खराब होती है, जिसकी वजह से उनकी व्यवसाय करने की क्षमता प्रभावित होती है। आज 'छवि जोखिम' कार्पोरेट सफलता में एक महत्वपूर्ण तत्व है। स्थानीय समुदायों द्वारा विरोध अथवा नकारात्मक वैश्विक प्रचार से शेयर की कीमतों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अधिकांश खनन कंपनियों की वेबसाइट एवं जनसंपर्क अभियान को देखें तो इन्हें समाजसेवी संस्था मानने का भ्रम होता है। इनके अभियान नारी स्वयं सहायता समूह, प्रसन्न चित्त बच्चों एवं पर्यावरण संरक्षण गतिविधियाँ से भरे रहते हैं।

कार्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व अनेक तरीकों से समस्या पैदा करने वाला है। अनेक मामले में सेवा संबंधी वादे खोखले साबित होते हैं। जैसे ही खनन सौदा संपन्न होता है अथवा विदेशी फंड देने वाले प्रभावित होते हैं, इनका परित्याग कर दिया जाता है। (उदाहरण के लिए कार्पोरेट निर्मित अस्पताल एवं स्कूल बिना कर्मचारी के ही खाली पड़े रहते हैं। कुछ समुदायों में स्वयं सहायता समूह इत्यादि के लिए दिए गए पैसे का इस्तेमाल खनन गतिविधियों के स्थानीय विरोधियों को चुप कराने के लिए किया जाता है। इससे भी बुरी बात यह है कि कंपनियां गैर सरकारी संगठनों के साथ भागीदारी करके हिस्सेदार (स्टेक होल्डर) बैठक का उपयोग स्थानीय समुदायों से सूचना जुटाने में करती हैं और बाद में उन्हीं के विरुद्ध

इसका उपयोग करती हैं। उदाहरण के तौर पर 2008 के अप्रैल में आर्सेलर मित्तल फाउंडेशन (मित्तल सी एस आर रिंग) ने झारखंड में राँची में एक स्टेक होल्डर बैठक का आयोजन किया और इसे नाम दिया 'डेवलपमेंट इनिशिएटिव फार ए बेटर टूमारो' अर्थात बेहतर भविष्य के लिए विकास की पहल। 70 स्थानीय गैर सरकारी संगठन इस सम्मेलन में आमंत्रित किए गए थे, सिर्फ 'आदिवासी अस्तित्व रक्षा मंच' (ट्राइबल आइडेंटिटी प्रोटेक्शन फोरम) एवं आदिवासी परिषद के प्रमुख को नहीं आमंत्रित किया गया था। स्थानीय आदिवासी कार्यकर्ता ग्लैडसन डुंगडुंग ने बताया कि इस सम्मेलन का उद्देश्य एक तीर से दो शिकार करना था। इसने स्थानीय गैर सरकारी संगठनों को विश्वास में लिया, जन प्रतिरोध के दौरान अपनाई गई रणनीतियों की जानकारी एकत्र की, जिससे कि इसका खात्मा करने के लिए अपनी रणनीति विकसित की जा सके। संयुक्त राष्ट्र सामान्य सभा ने 2005 में 'टूवर्ड्स ग्लोबल पार्टनरशिप' (वैश्विक भागीदारी की ओर) संकल्प पारित किया। इस संकल्प द्वारा इस बात को प्रोत्साहित किया गया कि व्यवसाय में त्रिपक्षीय भागीदारी हो। गैर सरकारी संगठन एवं सरकार 'विकास को प्रोत्साहित करे। लाभ में वृद्धि के लिए कार्पोरेट सोशल रिस्पांसिबिलिटी की ताकत का उपयोग करते हुए भी उद्योगों ने कार्पोरेट सोशल रिस्पांसिबिलिटी के माध्यम से समुदायों को दिए जाने वाले लाभ में वृद्धि के प्रयास का विरोध किया है। 2009 में भारतीय उद्योग परिसंघ ने एक स्वर से कंपनी विधेयक 2009 का विरोध करने का प्रयास किया, जिसमें कुल लाभ का 2 कार्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व पर व्यय किए जाने का प्रावधान था।

स्थानीय, राष्ट्रीय एवं वैश्विक गैर सरकारी संगठन एवं अकादमिक संस्थान, जिन्हें खनन उद्योगों और अथवा एजेंसियों द्वारा फंड उपलब्ध कराया जाता है, को सामूहिक रूप से 'एन जी ओ इंडस्ट्रियल एकेडमिक कांप्लेक्स' कहा जाता रहा है। इनके बीच गहरे संबंध का पता इस बात से भी लगता है कि इनके बोर्ड सदस्य एक ही होते हैं। उदाहरण के लिए माइकेल लिंक वेल बदनाम खनन कंपनी कजाकमिह (धोखाधड़ी की गतिविधियों में शामिल होने के कारण इसे विगत वर्ष लंदन स्टॉक एक्सचेंज से यूरेशियन नेचुरल संसाधन कार्पोरेशन की सूची से बाहर कर दिया गया) के निदेशक हैं और एकशन एड बोर्ड के सदस्य भी हैं।

नियमगिरी अभियान में अपने हितों के टकराव के लिए एक्शन एड की भी आलोचना होती रही है। 2003 में उसने दिल्ली में गृहविहीन आश्रम के लिए वेदांता की आनुषंगिक कंपनी स्टरलाइट से 40,000 पौंड (41 लाख रू.) का दान प्राप्त किया। 2010 में एकशन एड सी एस आर की सहयोगी 'पार्टनर्स इन चेंज' उस ज्यूरी में शामिल थी, जिसने वेदांता को उसी लांजीगढ़ रिफाइनरी, जिसके विरोध की अपेक्षा की जाती थी, के आस-पास 'अच्छे कार्य' के लिए बेस्ट कम्यूनिटी डेवलपमेंट' पुरस्कार प्रदान किया। इसके फलस्वरूप एक्शन एड ओडिशा के कार्यालय के सामने कई दिनों तक विरोध प्रदर्शन होता रहा।

खनन उद्योग और उनके सहयोगी विश्वविद्यालय के विभागों, परियोजनाओं एवं पाठ्यक्रमों को फंड उपलब्ध कराते हैं। ये खनन प्रौद्योगिकी के विकास के साथ ही साथ उद्योगों की सामाजिक प्रतिष्ठा में सुधार का भी कार्य करती है। उदाहरण के लिए विश्व की चौथी सबसे बड़ी खनन कंपनी वेल ने कोलंबिया विश्वविद्यालय में 'कोलंबिया सेंटर आन सस्टेनेबुल इंटरनेशनल इन्वेस्टमेंट' स्थापित किया। इसी मुद्दे पर गैर सरकारी संगठन भी इसके सहभागी हैं। खनन कंपनियों द्वारा अन्य बड़े पोषित एकेडमिक केंद्र है- कोलोराडो स्कूल आफ माइन्स, स्कूल आफ अर्थ एंड असीन सर्विसेज, यूनिवर्सिटी आफ विक्टोरिया, यूनिवर्सिटी आफ इस्टर्न फिन लैंड, यूनिवर्सिटी आफ डुंडी, यूनिवर्सिटी आफ क्वींसलैंड, यूनिवर्सिटी आफ वर्मन्ट- सबिन्स्टीन स्कूल फार द इनवायरनमेंट एवं रियो टिंटो कार्पोरेशन से समर्थित हार्वर्ड यूनिवर्सिटी केनेडी स्कूल आफ गवर्नमेंट।

खनन का असली चेहरा : प्रमुख खनन घोटाले एवं आपदाएं

खनन जनसंपर्क पर खरबों रुपये खर्च करने के बावजूद यह उद्योग भ्रष्टाचार, सामाजिक असंतोष, गरीबी एवं पर्यावरणीय आपदाओं की कहानियों से अभी भी भरा हुआ हैं। वेस्ट पापुआ के ओके टेडी माइन्स की त्रासदी के निरंतर सामने आने एवं पश्चिम अफ्रीका की ओर लौह खनिज के लिए मौजूदा दौड़, ये दो ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ भारतीय (एवं ब्रिटिश भारतीय) कंपनियां भी इस समय विवाद में फँसी हुई हैं।

खनन कंपनियों के कारण हुए पर्यावरण विनाश एवं मानवाधिकार हनन के चलते वेस्ट पापुआ और पापुआ न्यू गिनी उजड़ गए। 90 के दशक के शुरुआत में रियो टिंटो

एवं सहयोगी कंपनी फ्रीपोर्ट मैकमोरान ने वेस्ट पापुआ के ग्रासबर्ग खदान में बड़े पैमाने पर पर्यावरण विनाश किया और जब जनता ने 1996 में इस स्थिति का प्रतिरोध शुरु किया तब खदान की सुरक्षा के लिए इंडोनेशिया की सेना को धन उपलब्ध कराना शुरु किया गया। फ्रीपोर्ट मैकमोरान ने 1998 से 2004 के बीच इंडोनेशिया की सेना और पुलिस को 5.5 करोड़ डालर दान दिया। परिणाम स्वरूप हत्या और उत्पीड़न की घटनाएं बढ़ीं और आरोप लगे।

1980 से 1990 तक बी एच पी (बाद में बी एच पी विलिटन) ने फ्लाइ एवं ओके रेडी नदी में दो अरब टन सायनाइड मिश्रित अनुपचारित अपशिष्ट बहाया, जिससे 50,000 लोग प्रदूषण एवं विषाक्तता से ग्रस्त हुए। इसे 'दुनिया का सबसे बड़ा पर्यावरण आपदा' कहा गया। ओके रेडी तांबा एवं स्वर्ण खदान दुनिया की सबसे बड़ी तांबा खदान है। यह फूब्लियन पर्वत पर है, जो वेस्ट पापुआ के स्थानीय यांगोन लोगों के लिए पवित्र पर्वत है। 1996 में बी. एच.पी. के ऊपर 2 करोड़ 80 लाख डालर का मुकदमा किया गया था और उसने स्वीकार किया कि एक वर्ष में 9 करोड़ टन अपशिष्ट नदी में बहाया गया लेकिन उसे आगे किसी मुकदमे से निरापद रख दिया गया। 2002 में बी. एच.पी. विलिटन ने खदान (जो बुरे प्रचार के कारण ध ीरे-धीरे मंद पड़ रहा था) में अपने 52% हिस्से को पापुआ न्यू गिनी सस्टेनेबुल डेवलेपमंट प्रोग्राम लिमिटेड को दे दिया, जिसने खदान को चालू रखा और नदी में अपशिष्ट गिराना भी जारी रखा। 2007 में निनजेरम के स्थानीय लोगों में से भूस्वामियों के समूह ने बी एच पी विलिटन एवं ओ के रेडी तांबा खदान के संचालकों के विरुद्ध नागरिक क्षति के लिए 4 अरब डालर से अधिक का मुकदमा किया और 2013 में बी एच पी की कानूनी निरापदता खत्म हो गई। इस समय भारतीय परामर्श कंपनी विप्रो लि. ओके रेडी माइनिंग लिमिटेड की भागीदार हो गई है और खदान को 2025 तक बढ़ाने की योजना बना रही है।

2011 में अमरीकी फेडरल कोर्ट में रियो टिंटो के ऊपर बोगनविले एवं पापुआ न्यू गिनी में नरसंहार में शामिल होने का आरोप लगा। यहां की सरकार पर भी यह आरोप था कि 1980 एवं 90 के दौर में वह रियो टिंटो के निर्देश पर कार्य कर रही थी। इसी समय पांगुना कापर एवं गोल्ड माइन को रोकने का प्रयास कर रहे हजारों स्थानीय लोग मारे गए, जिसके परिणाम स्वरुप खदान के मसले पर संघर्ष हुआ। रियो टिंटो के ऊपर आरोप है कि उसने सैन्य परिवहन के लिए वाहन एवं हेलीकाप्टर उपलब्ध कराया, वनों को निष्पत्र करने के लिए रसायन का प्रयोग किया और विषाक्त पदार्थों का ढेर लगाया और इन सबके अलावा कर्मचारियों को गुलामों जैसी स्थिति में रखा।

पश्चिम अफ्रीका में गिनी में सिमांडु पहाड़ पर 2.4 अरब टन लौह अयस्क का भंडार है, जो दुनिया के प्रथम श्रेणी के बड़े भंडारों में से एक है। 1997 में खनन का पट्टा रियो टिंटो को दिया गया, लेकिन 2008 में गिनी सरकार द्वारा अचानक ही इसे खत्म कर दिया गया और बेनी स्टेनमेज ग्रुप रिसोर्स को पट्टे पर दिया गया। इस अत्यंत कम अनुभव वाली कंपनी के मालिक इजरायल के अत्यंत संपन्न व्यवसायी बेनी स्टेनमेज हैं। एक साल बाद बी.एस.जी.आर ने परियोजना में 51% हिस्सा (जिसके लिए कोई प्रत्यक्ष भुगतान नहीं किया गया था) 2.5 अरब डालर में वेल को बेच दिया और भारी मुनाफा कमाया। इस तरह के गैर जिम्मेदाराना व्यवहार को 'छिछोरापन' कहा जाता है। बाद में यह प्रमाण सामने आया कि कैसे बी एस जी आर ने इस सौदे के लिए राष्ट्रपति कोंडै की पत्नी को घूस देने के लिए जनसंपर्क कंपनी एफ टी आई (जिसके मध्य एशिया एवं यूरोप के वर्तमान अध्यक्ष मार्क बैलक ब्राउन है। ये संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्व उप महासचिव भी रहे हैं) के अनुभव का इस्तेमाल किया। इस समय दो दक्षिणी ब्लाक के लौह भंडार रियो टिंटो के पास हैं जबकि उत्तरी ब्लाक के भंडार बी एस जी आर, रियो टिंटो, वेल एवं गिनी सरकार के बीच कानूनी पेंच में फँसे हैं।

पड़ोसी देश लाइबेरिया में वेदांता ने 1 अरब टन लौह खनिज भंडार वाली कंपनी वेस्टर्न क्लस्टर लिमिटेड को इसी प्रकार के 'छिछोरपन' से हथिया लिया। वेदांता की लौह खनिज आनुषंगिक कंपनी सेसा-गोवा ने 2009 में 90 मिलियन डालर में एलेनिरो मिनरल एवं माइनिंग एल.एल. सी. से वेस्सटर्न कलस्ट लिमिटेड का 51% खरीद लिया। उसी दिन एलेनिरो ने खनन के लिए सरलीफ सरकार के साथ 25 वर्ष के खनन लीज पर हस्ताक्षर किया। छः माह भी नहीं बीते, एलेनीरो (जिसकी स्थापना ही इसी काम में सुविधा के लिए की गई) ने वेस्टर्न कलस्टर के बचे हुए हिस्से को भी नकद भुगतान पर 33.5 मिलियन डालर में वेदांता को बेच दिया और इन सबसे अलग हो गई। न केवल यह सौदा पूरी तरह अनियमित और गंभीर रुप से संदिग्ध है, बल्कि वेदांता द्वारा वेस्टर्न क्लस्टर को भुगतान की गई पूरी 12 करोड़ 35 लाख डालर की राशि 1 अरब

टन भंडार के वास्तविक मूल्य का अंश भर ही है।

हाल में ही कुछ और धांधली सामने आई है। मित्तल झारखंड में 1 करोड़ 20 लाख टन के इस्पात संयत्र के लिए एक बड़ी आदिवासी आबादी को विस्थापित करने का प्रयास कर रहा है, लेकिन अभी तक उन्हें सफलता नहीं मिली है और स्टेनकर (एक कंपनी, जिसकी हिस्सेदार ब्रिटेन की सांसद मार्ग रेट होज है) लौह अयस्क के अवमल (स्लज) को निर्यात के लिए समुद्र तट तक ले जाने हेतु पाइप लाइन बनाने के लिए उड़ीसा में वैतरणी नदी (जिससे 51 लाख किसान लाभान्वित हैं) तल मार्जन कर रही है।

खनन का भविष्य :

जैसा हमने देखा है, खनन उद्योग के लाभ और लागत पर होने वाली ज्यादातर बहसें 'विकास' में इसकी भूमिका पर ही टिकी होती हैं। स्थानीय रोजगार निर्माण, घरेलू कर में इसके योगदान और 'विकासशील अर्थव्यवस्था' की वृद्धि में उत्पादित खनन संसाधनों के महत्व पर ही चर्चा होती है। सबसे अच्छे टिप्पणीकार जिसमें गैर सरकारी संगठन भी शामिल है, कर योगदान में वृद्धि, अपेक्षाकृत अधिक नैतिक एवं पारिस्थितिकीय खनन पर जोर देते हैं, जिससे खनन उद्योग की छवि और सामाजिक मूल्य में सुधार हो। वस्तुत: इससे ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल उठाने की आवश्यकता है। वह यह है कि हम धरती के अत्यंत मूल्यवान एवं अद्वितीय संसाधनों की भी कीमत कैसे आंकते हैं। हमने यह दिखाने का प्रयास किया कि खनन पूँजीवादी अर्थशास्त्र 'बाह्य तत्वों' (वास्तविक मूल्य जिसे उत्पाद मूल्य में शामिल नहीं किया जाता) पर निर्भर रहता है। 'बाह्य तत्व' में प्रदूषण से संबंधित पारिस्थितिकीय काम स्थानीय एवं हाशिए के लोगों के खराब स्वास्थ्य और गैर कार्यशील पारिस्थितिकी तंत्र तथा भावी पीढ़ी का हिस्से का मूल्य भी शामिल है। धातुओं की आपूर्ति एवं मांग की अवधारणा को चुनौती देते हुए हमने यह दिखाया कि कैसे खनन के लिए लार्बीग करने वाले समूह सरकार एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ मिलकर कार्य करते हैं तथा मानव के विकास की परिभाषा गढ़ते हुए माँग एवं निर्माण में वृद्धि करते हैं। इसके अलावा हमने यह भी बताया कि कितने अरब टन धातु उपलब्ध हैं और उन्हें रिसाइकिल करके पुन: उपभोग में लाया जा सकता है। हमने दिखाया कि कैसे बैंकों एवं निवेशक फर्मो द्वारा वित्तीय तंत्र मसलन गोदाम, गठजोड़ एवं भावी बाजार (ट्रेडिंग) के जरिये धातुओं के मूल्य, इसकी उपलब्धता एवं कमी में सुविचारित हेर-फेर किया जाता है। यह भी दिखाया गया कि धातुओं का वैश्विक बाजार किस तरह गोपनीय एवं रहस्यमय बना हुआ है।

वैश्विक खनन उद्योग के इस व्यापक परिदृश्य के साथ ही हमने स्थानीय आबादी पर खनन के प्रभाव को भी अच्छी तरह दिखाया। चेहराविहीन विदेशी अंशधारकों के लाभ के लिए कैसे पवित्र पहाड़ों एवं परंपरागत आजीविका का विनाश किया जा रहा है तथा आत्मनिर्णय एवं सामुदायिक लोकतंत्र को दबाया जा रहा है।

खनन से प्रभावित स्थानीय एवं अन्य लोगों के परिदृश्य को पूरी तरह समझा जाए एवं उसका सम्मान किया जाए। इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी खनन बंद कर दिए जाएं, लेकिन इसे अत्यंत कम किया जा सकता है, उदाहरण के लिए गोवा में कारम गाँव में पवित्र बाग को अवैध खनिकों द्वारा अतिक्रमित किया गया तो ग्राम सभा ने सर्वसम्मत से यह संकल्प पारित किया कि यदि खनन शुरु किया जाता है तो इसका कार्य बहुउद्देशीय सहकारी सोसाइटी की एजेंसी के माध्यम से किया जाएगा, जिसकी स्थापना उन्होंने की है।

हम इस मामले को खनिज संसाधनों की कीमत के तर्कसंगत पुनर्मूल्यांकन के लिए तैयार कर रहे हैं, इसके लिए पूर्ण जीवन चक्र परिस्थितिकीय दृष्टि अपनाई जा रही है, इसमें पारिस्थितिक एवं सामाजिक 'बाह्य तत्व' भी शामिल हैं और धातुओं की वास्तविक कीमत को नियत किया जा रहा है। इन अद्वितीय धातुओं की वास्तविक कीमत निकालने से यह सुनिश्चित करने में मदद मिलेगी कि इनका इस्तेमाल धीरे-धीरे एवं सोच-विचार कर किया जाए, एवं मौजूदा तथा भावी पीढ़ी के लिए इसका समान वितरण किया जाए। इस बीच खनन उद्योग के अस्पष्ट प्रकृति को चुनौती दी जानी चाहिए। सरकार एवं समुदायों को यह जानने का अधिकार है कि उनके संसाधन कहाँ जा रहे हैं और किस कीमत पर जा रहे हैं, जिससे वे समान रुप से लाभान्वित हो सकें। महत्वपूर्ण सूचनाएं एकत्र करना पहला चरण होगा। जिससे हम धरती की बहुमूल्य धातुओं के तेजी से खत्म होने में बाजार की शक्तियों की भूमिका का पुनर्मूल्यांकन कर सकते हैं और यह तय कर सकते हैं कि खत्म होने के पहले बचे हुए भंडारों के साथ क्या किया जाए।

विश्व के प्रमुख खनन क्षेत्र

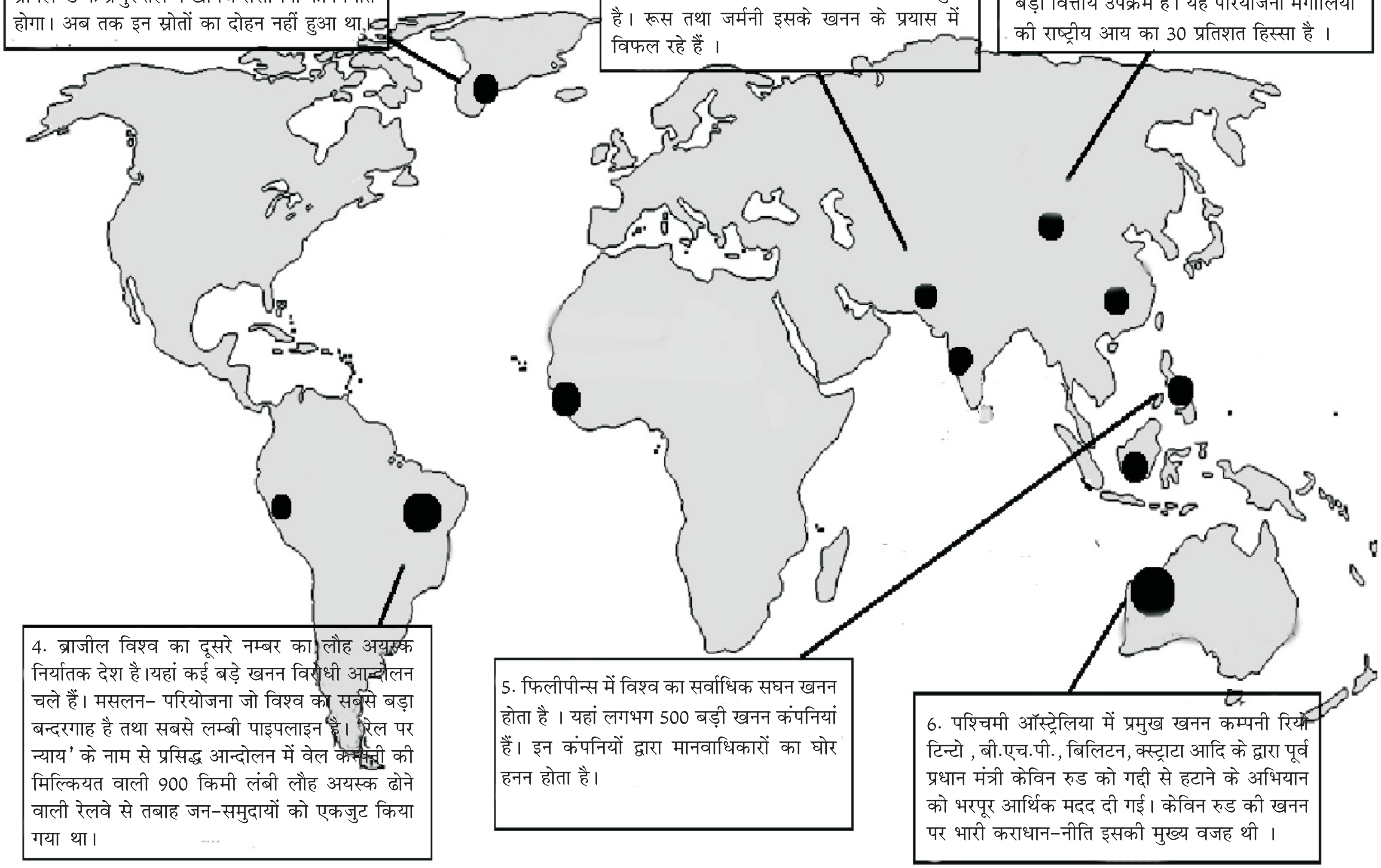

1. उत्तरी ध्रुवीय बर्फ चादर के पिघलने से यहां जहाजों के आवागमन का मार्ग बन गया है। इस मार्ग से ग्रीनलैण्ड के प्रचुर तेल व खनिज संसाधनों का निर्यात होगा। अब तक इन स्रोतों का दोहन नहीं हुआ था।

2. हाजीगाक खदान में एशिया का सबसे बड़ा लौह अयस्क भंडार है जिसका अब तक दोहन नहीं हुआ है। रूस तथा जर्मनी इसके खनन के प्रयास में विफल रहे हैं ।

3. 450,000 टन क्षमता की ओयु तोलगोई तांबा खनन परियोजना मंगोलियाई इतिहास का सबसे बड़ा वित्तीय उपक्रम है। यह परियोजना मंगोलिया की राष्ट्रीय आय का 30 प्रतिशत हिस्सा है ।

4. ब्राजील विश्व का दूसरे नम्बर का लौह अयस्क निर्यातक देश है।यहां कई बड़े खनन विरोधी आन्दोलन चले हैं। मसलन- परियोजना जो विश्व का सबसे बड़ा बन्दरगाह है तथा सबसे लम्बी पाइपलाइन है। 'रेल पर न्याय' के नाम से प्रसिद्ध आन्दोलन में वेल कम्पनी की मिल्कियत वाली 900 किमी लंबी लौह अयस्क ढोने वाली रेलवे से तबाह जन-समुदायों को एकजुट किया गया था।

5. फिलीपीन्स में विश्व का सर्वाधिक सघन खनन होता है । यहां लगभग 500 बड़ी खनन कंपनियां हैं। इन कंपनियों द्वारा मानवाधिकारों का घोर हनन होता है।

6. पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया में प्रमुख खनन कम्पनी रियो टिन्टो , बी.एच.पी., बिलिटन, क्स्ट्राटा आदि के द्वारा पूर्व प्रधान मंत्री केविन रुड को गद्दी से हटाने के अभियान को भरपूर आर्थिक मदद दी गई। केविन रुड की खनन पर भारी कराधान-नीति इसकी मुख्य वजह थी ।

अपने यौन हमलावर के नाम एक चिट्ठी : 'मैं एक बेटी हूं, दोस्त हूं और प्रेमिका हूं, तुम जीतोगे नहीं।'

इयोन वेल्स

(इयोन वेल्स ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की स्नातक कक्षा की छात्रा है। कुछ अरसा पहले वह घर लौट रही थी कि उस पर एक अजनबी ने यौन हमला किया। इयोन ने एक चिट्ठी लिखी– अपने हमलावर के नाम, और उन लोगों के नाम जो उसकी मदद के लिए आए। यह चिट्ठी पहले ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के छात्रों की पत्रिका में छपी और फिर ब्रिटेन के टेलीग्राफ अखबार में। यह यौन हमले से कातर और हताश हुई किसी लड़की की नहीं, अपनी बिरादरी में भरोसा रखने वाली एक मजबूत लड़की की कहानी है जो हमारी–आपकी दोस्त और सहेली हो सकती है।)

मैं ये चिट्ठी तुम्हारे नाम नहीं लिख सकती, क्योंकि मैं तुम्हारा नाम नहीं जानती।

मैं सिर्फ इतना जानती हूं कि तुम एक गंभीर यौन आक्रमण और लंबे हिंसक हमले के आरोपी हो।

और मेरा एक सवाल है।

जब तुम सीसीटीवी कैमरे पर भूमिगत रेल से मेरे पड़ोस तक मेरा पीछा करते पकड़े गए। जब तुम इंतजार कर रहे थे कि मैं अपनी सड़क पर आऊँ और तुम मुझ तक पहुंचो। जब तुमने अपने हाथ से मेरा मुंह इस तरह जकड़ लिया था कि मेरा सांस लेना मुश्किल हो गया था। जब तुमने मुझे मेरे घुटनों पर ला दिया था और मेरा चेहरा लहूलुहान हो गया था। जब मैं तुम्हारे हाथों की जकड़ से छूटने के लिए लड़ रही थी कि चीख सकूं।

जब तुमने मुझे बाल पकड़ कर खींचा और जब तुमने मेरा सिर फुटपाथ से दे मारा और मुझसे कहा कि मदद के लिए चिल्लाना बंद करूं। जब मेरी पड़ोसन ने तुम्हें खिड़की से देखा और तुम पर चिल्लाई, और तुमने उसे घूरा और मेरी कमर और गर्दन पर वार करते रहे।

जब तुम इतनी ताकत से मेरे वक्षों पर झपटे कि मेरी ब्रा फट कर आधी रह गई। जब तुमने मेरे असबाब की तरफ देखा तक नहीं क्योंकि तुम्हें मेरा जिस्म चाहिए था। जब तुम मेरा जिस्म हासिल करने में नाकाम रहे, क्योंकि मेरे घरवाले और पड़ोसी निकल आए और तुमने उन्हें सामने देखा।

जब सीसीटीवी कैमरे में तुम भागते हुए और 20 मिनट बाद, एक और औरत का पीछा करते दिख रहे थे, जिसके बाद उसी स्टेशन पर तुम गिरफ्तार हो गए। जब मैं पांच बजे सुबह पुलिस स्टेशन में थी जबकि तुम चार मंज़िल नीचे हिरासत में थे। जब मुझे फोरेंसिक टीमों को अपने कपड़े और अपने नग्न जिस्म के चोट और निशानों के फोटो देने पड़े।

क्या तुमने एक बार भी अपनी ज़िंदगी में आए लोगों के बारे में सोचा?

मैं नहीं जानती, तुम्हारी ज़िंदगी में कौन से लोग हैं? मैं तुम्हारे बारे में कुछ नहीं जानती।

लेकिन मैं यह जानती हूं उस रात तुमने सिर्फ़ मुझ पर हमला नहीं किया।

मैं एक बेटी हूं। मैं एक दोस्त हूं। मैं एक प्रेयसी हूं। मैं एक छात्रा हूं। मैं एक बहन हूं। मैं एक भतीजी हूं। मैं एक पड़ोसी हूं। मैं एक कामगार हूं जो हर रोज रेलवे में बने कैफे में लोगों को कॉफी सर्व करती है। ये सारे लोग जो मुझसे ये रिश्ता रखते हैं, मेरी बिरादरी बनाते हैं और तुमने उनमें से हरेक पर हमला किया। तुमने उस सच्चाई को नापाक किया जिसकी ये सब लोग नुमाइंदगी करते हैं और जिसके लिए मैं लड़ना कभी बंद नहीं करूंगी कि दुनिया में अच्छे लोगों की तादाद बुरे लोगों से कई गुना ज्यादा है।

ये चिट्ठी वाकई तुम्हारे लिए कतई नहीं है, यह उन तमाम पीड़ितों के लिए है जिन पर गंभीर यौन हमले हुए या इसकी कोशिश हुई और उनकी बिरादरियों के एक–एक सदस्य के लिए है।

मुझे यकीन है तुम्हें 7/7 याद होगा। मुझे यह भी यकीन है कि तुम्हें याद होगा कि किस तरह आतंकी जीते नहीं, क्योंकि लंदन की पूरी बिरादरी अगले दिन भूमिगत रेल पर चली आई थी। तुमने अपना हमला किया, लेकिन मैं अब अपनी रेल में लौट रही हूं।

मेरी बिरादरी यह महसूस नहीं करेगी कि अंधेरे के बाद घर लौटना हमारे लिए असुरक्षित है। हम आख़िरी ट्रेन में घर लौटेंगे और हम सड़क पर अकेले चलेंगे, क्योंकि हम इस विचार के आगे घुटने नहीं टेकेंगे कि ऐसा करके हम खुद को खतरे में डाल रहे हैं।

हम साथ आना जारी रखेंगे, किसी सेना की तरह, जब हमारी बिरादरी के किसी भी सदस्य को डराया जाएगा।

ये वह लड़ाई है जो तुम नहीं जीतोगे।

बिरादरी वह ताकत है जिसे हम कम आंकते हैं। हम उसी अखबार वाले से रोज अखबार लेते हैं, हम पार्क में अपने कुत्ते को टहला रही महिला को देख हाथ हिलाते हैं, हर रोज हम एक ही मुसाफ़िर के बगल में बैठते हैं।

हर शख्स जिसे हम जानते हैं और जिसका ध्यान रखते हैं, हर रोज के कुछ सेकंड से ज्यादा नहीं लेता, लेकिन उनसे हमारी जिंदगियों का एक बड़ा हिस्सा बनता है। एक बार किसी ने मुझसे यहां तक कहा, चाहे वे जितने अनजाने मालूम होते हों, हमारे सपनों में आने वाले चेहरे वे चेहरे होते हैं जिन्हें हमने पहले देखा है।

हमारी बिरादरी हमारी मनोरचना में बस जाती है। तुम, मेरे हमलावर, तुमने मेरे भीतर की, या मेरे कर्म की कोई कमजोरी साबित नहीं की, बस मनुष्यता की अटूटता का प्रदर्शन करा दिया।

जब तुम बैठकर मुकदमे का इंतजार कर रहे हो, मुझे उम्मीद है, तुम सिर्फ ये नहीं सोच रहे कि तुमने क्या किया है। मुझे उम्मीद है, तुम बिरादरी के बारे में सोच रहे हो। अपनी बिरादरी के बारे में- भले ही तुम इसे अपने आसपास रोज नहीं देखते हो। ये यहां है। हर तरफ है।

तुमने मेरी बिरादरी को कम करके आंका। या मुझे कहना चाहिए, हमारी ? मैं कुछ इस तरह की बात कह सकती थी, 'कल्पना करो, अगर मैं तुम्हारी बिरादरी की सदस्य होती', लेकिन इसकी जगह मैं यह कहने जा रही हूं।

बिरादरी में कोई सरहद नहीं होती। सिर्फ़ अपवाद होते हैं, और तुम उनमें से एक हो।

नेस्ले की मैगी को अब एपको बचायेगा

मनोज त्यागी

नेस्ले कम्पनी ने मैगी को बचाने के लिए किये तमाम कानूनी और राजनैतिक हथकण्डे असफल हो जाने के बाद अब अमरीका की विशालकाय पी. आर. कम्पनी एपको को यह जिम्मेदारी सौंप दी है। उत्पाद की जाँच और गुणवत्ता शोध पर खर्च करने के मुकाबले लगभग सौ गुना ज्यादा विज्ञापन और मार्केटिंग पर खर्च करने वाली नेस्ले कम्पनी (वर्ष 2014 में 445 करोड़ रुपया विज्ञापन और प्रोमोशन पर खर्च, जबकि जाँच पर इसका मात्र 5% खर्च) को एपको पर ज्यादा भरोसा है। नेस्ले हमेशा से ही गुणवत्ता के मुकाबले अपने उत्पादों के विज्ञापन और प्रमोशन पर भरोसा करती आयी है और इन दोनों मदों में उसके खर्च के अनुपात का अन्तर तेजी से बढ़ रहा है इसीलिए दुनिया की सबसे महँगी पी. आर. एजेंसी एपको को करोड़ो डॉलर की कीमत पर उसने अपना पालनहार नियुक्त कर दिया है।

नेस्ले कम्पनी का भारत की न्यायिक प्रक्रिया और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की अपेक्षा एपको जैसी पी. आर. एजेंसी के प्रति ज्यादा आस्था और विश्वास रखने के पीछे बड़े महत्वपूर्ण कारण हैं। एपको वही पी.आर. एजेंसी है जिसे नरेन्द्र मोदी ने गुजरात दंगो (2002) से उनकी और उनकी सरकार को भारी बदनामी से उबारने के लिए नियुक्त किया था। एपको ने गुजरात के 2002 के सच को पीछे धकेलकर पूँजी निवेशकों के लिए सबसे बेहतर राज्य की उसकी छवि निर्मित की। अब भारत के जिस फूड सेफ्टी एण्ड स्टैण्डर्ड अथॉरिटी आफ इण्डिया ने मैगी को प्रतिबन्धित किया है वह मोदी के गुजरात से बड़ा तो नही है।

एपको ने ही नेस्ले की भारत में मैगी घटना के बाद पहली प्रेस कांफ्रेंस आयोजित की। नेस्ले ने एपको के साथ अपनी एसोसियेशन का कोई ब्योरा देने से भी इंकार कर दिया। एपको के भारत में क्रिया कलापों की मैनेजिंग डायरेक्टर सुकमनी घोष ने कहा कि 'हम अपने मुवक्किलों के बारे में बात नही करते।'

इतना ही नहीं एपको ने 'वाइब्रेंट गुजरात' के जरिए मोदी को प्रधानमन्त्री पद का सबसे सुयोग्य उम्मीदवार बना डाला तो इसके आगे मैगी का मामला तो मामूली ही है। गुजरात सरकार की तरह नेस्ले भी एक महीने में 15 लाख डॉलर की मोटी रकम एपको को प्रचार के लिए देने को तैयार है तो फिर इसका रास्ता आसान हो जाता है। एपको के मुवक्किलों की फेहरिस्त लम्बी है। इसमें मोदी और नेस्ले ही नहीं बल्कि दुनिया के तानाशाहों से अन्तर्राष्ट्रीय निवेश बैंक तक शामिल हैं।

अपने वाशिंगटन मुख्यालय से एपको ने कई बड़ी राजनीतिक आर्थिक बहसों को प्रसारित किया जिनसे अमरीका और दुनिया हिल उठी। मर्क कम्पनी की आर्थराइटिस का दवा बायोक्स खाकर जब हजारों लोग मर गये और दवा कम्पनी स्कैण्डल में फँस गयी तो उसे संकट से उबारने का काम एपको ने किया। कजाकिस्तान के राष्ट्रपति नुरुसुलतान नजरवायेव ने अपने दामाद रखत अलियार के साथ चार वर्षो से चल रहे झगड़े से निकलने के लिए एपको को किराये पर लिया।

2013 में एपको ने जानसन एण्ड जानसन का संकट सुलझाया जब यह कम्पनी भारत में अपने बेबी पाउडर में मिली संदेहास्पद सामग्री के कारण आलोचना का शिकार हो गयी। एक वर्ष बाद ही देश के बड़े अखबारों में कम्पनी का नया विज्ञापन बेबी पाउडर को लेकर निकला और उसकी छवि सुधर गयी। यही तरीका है एपको का लड़ाई लड़ने का। एपको ने डाऊ कार्निंग, वाल्ट डिजने, मास्टर कार्ड, केयर्न, वेलस्पन और फेसबुक की भारत में सेवा की है। अपनी वेबसाइट पर एपको कहती है कि ''ब्राण्ड मार्केट और रेपुटेशन जो आपने इतनी मेहनत से निर्मित की है, वह नियमित व्यापार के लिए बहुत जरुरी है। हम आपको दिखाते हैं कि हम कैसे खतरों का पूर्वानुमान लगाकर और उन्हें कम करके आपके व्यापार को बचाते हैं, जबकि आप अपने ब्राण्ड वैल्यूज के प्रति समर्पित रहते हैं।''

नेस्ले को शायद इससे भी ज्यादा मदद की जरूरत होगी। नेस्ले ने जैसे ही मैगी को दुकानों से हटाया वैसे ही इसने अपनी वेबसाइट पर एफ.ए.ओ. द्वारा भारत में मैगी नूडल्स की एक विस्तारित लिस्ट जारी कर दी और एपको के प्रचार को हवा दे दी।

जिस तरह आज मैगी ने अपनी बदनामी से बचने के लिए दुनिया की सबसे ताकतवर और भरोसेमन्द पी. आर. एजेंसी की शरण ली है, जिसके साथ होने का मतलब है सरकार और मीडिया को अपने पक्ष में कर लेने की भरपूर सम्भावना। आज से करीब तीस साल पहले जब मैगी भारत में शुरुआत कर रही थी तो घर-घर पहुँचाने के लिए ठीक इसी तरह के विश्वसनीय माध्यम दूरदर्शन का दामन थामकर यह लोकप्रिय हुआ था। *(पीएनएन)*

कब तक चलेगा किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला?

शिउली वनजा

इस साल के 1 जून से 13 जुलाई तक कर्नाटक में 41 किसान आत्महत्या कर चुकें है। इनमें से आधे से ज्यादा (26 के करीब) गन्ना किसान हैं। इस साल कर्नाटक की कावेरी पट्टी में गन्ने की बहुत अच्छी फसल हुई है। यह इलाका बहुत ही उर्वरक और कृषि के अनुकूल है। यह कैसी विडम्बना है कि एक कृषि समृद्ध इलाके में फसल बहुत अच्छी होने का नतीज़ा किसानों की आत्महत्याएँ है?

इसकी जड़ में हमारी आर्थिक और कृषि नीति है जो अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार के उतार चढ़ाव के हिसाब से भारत के किसानों का भाग्य तय करती है। अर्थशास्त्र के मांग और पूर्ति के नियमों के हिसाब से जब फसल अच्छी होगी और बाज़ार में पूर्ति ज्यादा होगी उस साल उस फसल के दाम बाज़ार में गिरेंगे और जिस साल पूर्ति कम होगी दाम बढ़ जाएँगे। यदि पूरी तरह से कृषि को बाज़ार के भरोसे छोड़ दिया जाए तो किसान हर साल अच्छी फसल होने पर मारा जाएगा। किसान किसी भी साल में किस फसल को बोएगा इसका निर्णय उस साल किस फसल के दाम बाज़ार में अच्छे होंगे उसको लेकर करता है। और यदि सारे किसान यही करते हैं और अच्छी फसल होगी तो उसे उसकी फसल का दाम नहीं मिलेगा। पूरी तरह से कृषि को बाज़ार के ऊपर

छोड़ने पर किसान और उपभोक्ता दोनों बाज़ार के जोखिम और उतार-चढ़ाव के शिकार बनते हैं। इसीलिए कृषि में सरकारी नियंत्रण की आवश्यकता होती है जो बाज़ार के उतार चढ़ाव के परे कृषि मूल्यों को निर्धारित करें ताकि अत्यधिक दाम गिरने से किसान और दाम बढ़ने से उपभोक्ता प्रभावित न हों।

भारत का कृषि संकट सिर्फ सरकार के कृषि में नियंत्रण और मूल्य निर्धारण को ठीक तरह से न लागू करने का ही नतीजा नहीं है। यह हरित क्रांति के फलस्वरूप कृषि के लगातार बढ़ते खर्च, 1991 के बाद से कृषि में लगातार घटते अनुदान और कृषि का बाज़ार खुला कर देने के कारण बढ़ते जोखिम का भी मुख्य परिणाम है जिसने भारत में खेती को एक घाटे का धंधा बना दिया है। 2012 में सी रंगराजन समिति ने चीनी और गन्ने के क्षेत्र के उदारीकरण की सिफारिशें करते हुए अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को जमा की थी। इन सिफारिशों में एक मुख्य सिफारिश यह है कि गन्ने के लिए समर्थन मूल्य समाप्त कर देना चाहिए और चीनी मीलों को यह आजादी होनी चाहिए कि वे बाज़ार की कीमतों और अपने मुनाफे के हिसाब से दाम तय करके किसानों से गन्ना खरीदें। 2012 से अभी तक भारत सरकार ने रंगराजन समिति की कुछ सिफारिशों को लागू किया है पर गन्ने के समर्थन मूल्य को समाप्त करके चीनी मिलों को गन्ने के दाम तय करने की पूरी छूट अभी तक कानूनी रूप से नहीं मिली है।

रंगराजन समिति की सिफारिशें पूरी तरह से लागू न होने के बावजूद चीनी मिलों की मनमानी और सरकार का गैर जिम्मेदाराना रवैया (जिसकी तह में उसकी नवउदारवादी नीतियां है) ने पहले पश्चिमी उत्तर प्रदेश और अब कर्नाटक के किसानों को आत्महत्याएं करने को मजबूर किया है। कर्नाटक में 2013 से चीनी मिलों के ऊपर किसानों का 2900 करोड़ रूपया बकाया है जो चीनी मिलें किसानों को नहीं दे रही है। इसके कारण किसानों को स्थानीय ऋणदाता/महाजनों से बहुत ज्यादा ब्याज दरों पर कर्ज लेने के लिए मजबूर होना पड़ा है। अखबार में छपी खबरों के हिसाब से यह ऋण दरें अक्सर 30 या 30 प्रतिशत से ज्यादा होती है। दो सालों से चीनी मिलों द्वारा किसानों का पैसा न देने और खेती और अन्य खर्चो के लिए ऊँची दरों पर कर्ज लेने के फलस्वरूप कर्नाटक की कावेरी पट्टी के किसानों के ऊपर काफी कर्जा है। एक किसान ने आत्महत्या की उसके ऊपर करीब 30 लाख से ज्यादा का कर्जा था। इस साल गन्ने की अच्छी फसल होने के साथ अन्तराष्ट्रीय बाज़ार में दाम गिरने से स्थानीय बाज़ार में चीनी के दाम गिर गए हैं और चीनी मिलों ने सरकार द्वारा निर्धारित दामों पर किसानों से गन्ना खरीदने से मना कर दिया है। ऐसी स्थिति में किसान मजबूर होकर खुदकुशी कर रहे है। कर्नाटक में ही एक गन्ने के किसान यह जानने के बाद कि चीनी मिलें गन्ने की फसल नहीं खरीदेंगी अपने खेत में गन्ने कि फसल में आग लगा कर उसमे खुद कूद गया और मारा गया। अब कर्नाटक सरकार यह घोषणा कर रही है कि चीनी मिलों को 31 जुलाई तक किसानों का सारा बकाया पैसा वापस करना होगा। पर जिस गति से किसान आत्महत्याएं कर रहे है ऐसा लगता है तब तक बहुत देर हो जाएगी। यदि चीनी मिलें किसानों का पैसा अभी दे भी दें तो भी इस समस्या का कोई स्थायी हल नहीं निकलेगा ।

2002 से अभी तक भारत में 2 लाख से ज्यादा किसान आत्महत्या कर चुकें है और इनमें से काफी सारे कृषि समृद्ध इलाकों के किसान है। भारत जैसे देश में जिसमें आज भी लगभग 50 प्रतिशत जनता अपनी आजीविका के लिए कृषि पर आश्रित है लगातार किसानों की आत्महत्याएं कृषि के गहरे संकट और हमारी सरकारों में बैठें लोगों की उदासीनता और देश की जनता के प्रति गैरजिम्मेदाराना रवैये को दर्शाता है। यह भारत में नवउदारवादी नीतियों की असफलता और उनके हानिकारक नतीजों का भी नमूना है। सवाल यह है कि आखिर कब तक चलता रहेगा भारत के किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला ? क्या हम भारत के कृषि समुदाय और उसपर आश्रित जनता के पूरी तरह से समाप्त हो जाने के पहले जागेंगे और बदलेंगे अपनी किसान विरोधी नवउदारवादी नीतियों को ?

आज की सभ्यता से जुड़ी टेक्नॉलॉजी की सबसे भोड़ीं मिसाल खनन है। खनन से प्रकृति के स्वरूप का विनाश होता है, उसके संसाधनों में कमी आती है और प्रकृति की गोद में पल रहे, बचे-खुचे मानव समाज का ख़ात्मा होता है। ऐसी आदिम जातियों का विनाश होता है, जो उस प्राकृतिक भू-भाग के स्वाभाविक रुप से मालिक या हकदार हैं।

जब तक मनुष्य एक ऐसी तकनीक विकसित कर नहीं लेता जिससे कि खनन प्रक्रिया खानों को हमेशा के लिए खत्म न करे, अपितु सम्पोषित कर सके, तब तक नई खानों व खदानों को नहीं खोलना चाहिए।

प्रकृति प्रेमी मानस ही प्रकृति प्रेमी औजार गढ़ सकता है। ऐसे औजारों के बिना मनुष्य को प्रकृति के दोहन करने का नैतिक अधिकार नहीं है।

- किशन पटनायक

अधूरी गिनती का अपराधी कौन ?

दिलीप मंडल

(इंडिया टुडे के पूर्व मैनेजिंग एडिटर। पुस्तक ''जातिवार जनगणना, संसद, समाज और मीडिया'' के लेखक।)

भारत में आजादी से पहले तक जाति की गिनती हुई है। 1941 तक हर जनगणना में जाति गिनी गई. 1931 तक के आंकड़े हमारे पास हैं। 1941 की जनगणना के आंकड़े दूसरे विश्वयुद्ध के कारण संकलित नहीं किए गए। इसलिए जब भी भारत में जाति का कोई प्रश्न आता है, तो तमाम आयोग और संस्थाएं 1931 के आंकड़ों से काम चलाती हैं और मामला जब कभी अदालत में जाता है तो जज कह देते हैं कि नए आंकड़े लेकर आएं। 1951 की जनगणना में पहली बार जाति नहीं गिनी गई। इस उम्मीद में कि आजादी के बाद शायद जाति खत्म हो जाएगी। लेकिन जाति तो आसानी से जाती नहीं है। जाति भी रह गई और जातिवाद भी। फर्क सिर्फ इतना पड़ा कि जाति की गिनती बंद हो गई और भारतीय समाज के हकीकत की पर्दादारी हो गई।

पहले पिछड़ा वर्ग आयोग यानी काका कालेलकर कमीशन ने सरकार ने जाति के नए आंकड़े मांगे और मंडल कमीशन ने भी। लेकिन एक के बाद एक सरकारों ने इस प्रश्न को टालने का काम किया। वर्तमान एनडीए सरकार भी इसी लीक पर चलती दिख रही है। सामाजिक आर्थिक जाति जनगणना के आंकड़े जारी न करके सरकार ने मामले को एक आयोग के हवाले कर दिया है और टालमटोल के मौजूदा रवैए से इस बात की कोई उम्मीद नजर नहीं आती कि निकट भविष्य में जाति गणना के आंकड़े सामने आ पाएंगे। 46 लाख जातियों के होने का एक अद्‌भुत बयान केंद्रीय मंत्री अरुण जेटली ने दिया है। मानो जाति जनगणना कराके कोई आफत आ गई हो। 1931 तक जितनी जातियां थी, वो अचानक कई हजार गुना कैसे बढ़ गई, इस रहस्य का पर्दाफाश शायद कभी अरुण जेटली ही करें।

अगर आप जाति जनगणना को लेकर हुए विवाद और विमर्श की गहराई में जाएंगे तो यह बात साफ हो जाएगी कि जाति जनगणना न होने की जितनी अपराधी बीजेपी है, उससे कम अपराधी कांग्रेस नहीं है। कांग्रेस इस मामले में मुख्य अभियुक्त है और बीजेपी सह अभियुक्त।

कांग्रेस के पास 2011 की जनगणना के समय यह मौका था कि वह उस समय चलने वाली जनगणना में सिर्फ जाति का एक कॉलम जोड़कर जाति की गणना करा लेती। लोकसभा में इस बारे में सहमति बन चुकी थी और बीजेपी समेत तमाम दलों के अध्यक्षों ने सरकार को पत्र लिखकर जाति जनगणना कराने की मांग की थी। लेकिन तत्कालीन कैबिनेट में प्रणव मुखर्जी और पी. चिदंबरम ने मिलकर इस पूरी कसरत को नष्ट कर दिया। उन्होंने ऐसी व्यवस्था दी कि दस साल में होने वाली नियमित जनगणना को 2011 में भी पहले की तरह होने दिया जाए और बाद में जाति की अलग से गिनती कराई जाई। दरअसल जाति जनगणना न होने के मूल में यूपीए सरकार का यह फैसला ही है। जाति गणना को जाति जनगणना से अलग करते ही तय हो गया था कि जाति गणना के आंकड़े नहीं आएंगे। बीजेपी सरकार ने इस मामले में कांग्रेस के फैसले को लागू भर किया है।

जाति की गिनती को दस साल में होने वाली जनगणना से बाहर रखने से मुख्य रुप से ये नुकसान हैं–

1. भारत में हर दस साल में होने वाली जनगणना का पूरा काम जनगणना कानून, 1948 के तहत होता है। कानून के तहत गणना होने के कारण इस पूरी प्रक्रिया को कानून की सम्मति हासिल है। इस वजह से गलत जानकारी देने वालों को भय भी होता है।

2. दस साल में होने वाली जनगणना में सरकारी कर्मचारियों और खासकर शिक्षकों को लगाया जाता है, जो इलाके को अच्छे से जानते हैं। शिक्षा का अधिकार कानून के बाद सरकारी शिक्षकों को दशकीय जनगणना में तो लगाया जा सकता है, लेकिन अन्य तरह कि गणना में नहीं।

3. दशकीय जनगणना एक निर्धारित समय के अंदर यानी फरवरी महीने में पूरी हो जाती है. जबकि बाकी गिनती साल दर साल चलती रह सकती है.

4. दोनों गिनती साथ होने से राष्ट्र के धन की बचत होती।

5. दशकीय जनगणना का काम भारत के रजिस्ट्रार जनरल कराते हैं, जिनके कार्यालय को इसका अनुभव है। किसी भी और मंत्रालय या विभाग के तहत इस काम को कराने से गड़बड़ी की आशंका रहती है।

जाति जनगणना का विवादों से भरा इतिहास

जाति जनगणना का प्रश्न पिछले कुछ सालों में लगातार चर्चा में रहा है लेकिन सरकार इस प्रश्न पर कभी गंभीर नहीं रही है। अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार और मनमोहन सिंह की सरकार का रवैया इस मामले में अलग नहीं रहा है। इस बारे में अब तक की सबसे गंभीर कोशिश संयुक्त मोर्चा सरकार के दौरान की गई थी, जब एक कैबिनेट नोट प्रसारित किया गया था, लेकिन चंद महीने बाद आई अटल बिहारी वाजपेयी सरकार ने उस प्रस्ताव को कूड़े की टोकरी में डाल दिया।

2001 में भी यह सवाल चर्चा में था। उस साल की जनगणना से काफी पहले, कांग्रेस के राज्यसभा सदस्य एस. एम. कृष्णा ने केंद्रीय गृह मंत्रालय से जानना चाहा था कि क्या केंद्र सरकार 2001 में जाति आधारित जनगणना कराने का इरादा रखती है। उन्होंने सरकार से इसके पीछे के तर्क के बारे में बताने की भी मांग की थी। केंद्रीय गृहमंत्री लालकृष्ण आडवाणी ने पहले सवाल के जवाब में कहा नहीं, और दूसरे सवाल के जवाब में उन्होंने कहा– सवाल ही नहीं उठता।[i]

2001 की जनगणना में जाति की गिनती को शामिल करने के बारे में 8 जनवरी ,1998 में उस समय की संयुक्त मोर्चा सरकार के कल्याण मंत्रालय ने एक कैबिनेट नोट (2011–12–1997–BCC) तैयार करके उसे प्रसारित किया था। इसके तुरंत बाद संयुक्त मोर्चा सरकार गिर गई और मार्च 1998 में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार बनी। लालकृष्ण आडवाणी गृह मंत्री बने। गृह मंत्रालय ने 26 मई 1998 को इस प्रस्ताव को खारिज (पत्र संख्या 9–47–98–CD (GEN) कर दिया। रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया ने 26 जून, 1998 को एक पत्र कल्याण मंत्रालय को भेजा जिसके साथ कैबिनेट नोट पर लगी गृह मंत्रालय की टिप्पणी भी थी। वर्ष 2000 में जब केंद्र में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार थी, जब सामाजिक न्याय मंत्रालय ने रजिस्ट्रार जनरल को सूचना (DO No- 110011–3–2000–BCC) भेजी कि: ''यह तय किया गया है कि जाति के आधार पर जनगणना कराने की कोई आवश्यकता नहीं है।''[ii]

लालकृष्ण आडवाणी के नेतृत्व में चल रहे गृह मंत्रालय ने जाति आधारित जनगणना के विरोध में ये तर्क दिए थे:

1. जाति हमारे समाज को बांटने वाली सबसे बड़ी ताकत है। किसी व्यक्ति की सामाजिक हैसियत तय करने उसके सामाजिक दायरे का निर्धारण करने और उसके राजनीतिक जुड़ाव का फैसला करने में इसकी भूमिका के बावजूद इसे वैधानिक दर्जा देना समझदारी नहीं है।

2. संविधान में खास समुदायों को संरक्षण देने की बात करते हुए शैक्षणिक और सामिजिक रूप से पिछड़े वर्गों और कमजोर तबकों की बात है। जाति का जिक्र सिर्फ भेदभावकारी पहलू के रूप में आया है, जिससे बचा जाना चाहिए। जातिवार जनगणना से लोग जाति के आधार पर ओबीसी के दायरे में रख दिए जाएंगे और सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक पिछड़ेपन की अनदेखी कर दी जाएगी। यह भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्ष भावना के विरुद्ध होगा।

3. अगली जनगणना में जाति को शामिल करके लोगों को जाति के आधार पर गिनने की कोशिश की जा रही है। इसके लिए जाति की एक ऐसी परिभाषा होने की कल्पना की जा रही है जिसे लोग और जनगणनाकर्मी दोनों समझ पाएंगे। यह हो पाना काफी मुश्किल है क्योंकि जाति के अंदर उपजाति और उप जातियों के अंदर उप–उपजातियां हैं। जातियों की संख्या इतनी ज्यादा है कि जनगणना का काम मुश्किल हो जाएगा। सच तो यह है कि ऐसा कोई आधारिक दस्तावेज नहीं है जिसके बारे में यह दावा किया जा सके कि उसमें सभी जातियों–उप जातियों का उल्लेख है।

सांसद सी पी तिरुनावुक्कारसु ने एनडीए सरकार के दौरान सांख्यिकी और योजना क्रियान्वयन मंत्रालय से जानना चाहा था कि क्या सरकार 2001 की जनगणना में पिछड़ी जातियों के लोगों की गिनती करने वाली है। उनका दूसरा सवाल था कि अगर ऐसा नहीं है तो इसकी वजह बताएं। विभाग के मंत्री अरुण शौरी ने इस सवाल के जवाब में राज्यसभा को जनकारी दी कि सरकार जनगणना में पिछड़ी जातियों की गणना नहीं कराएगी क्योंकि सरकार ने जाति और समुदाय आधारित जनगणना कराने के सवाल पर विचार किया और तय किया कि जाति और समुदाय के आधार पर जनगणना न कराने की नीति को न बदला जाए।[iii] स्पष्ट है कि न सिर्फ सरकार जाति आधारित जनगणना से बचना चाहती थी बल्कि वह ऐसा न करने के कारण भी नहीं बताना चाहती थी।

यूपीए के शासन काल में तो जाति आधारित जनगणना का सवाल कई बार लोकसभा और राज्यसभा में उठे। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता जनार्दन पुजारी ने यह जानना चाहा कि

क्या केंद्र सरकार जाति आधारित जनगणना कराने पर विचार कर रही है और अगर हां तो इसका ब्यौरा दिया जाए। इस सवाल का जवाब केंद्रीय गृह राज्य मंत्री मानिकराव एच गावित ने दिया। उन्होंने बताया कि आजादी के बाद से देश में जाति आधारित जनगणना नहीं हुई है और जाति आधारित जनगणना कराने का सरकार के पास कोई प्रस्ताव भी नहीं है। 1951 के बाद से सभी जनगणना में संवैधानिक जरूरतों को पूरा करने के अनुसूचित जाति और जनजाति की जनगणना की जाती है। उन्होंने यह भी बताया कि केंद्रीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय ने सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों से कहा है कि वे अन्य पिछड़े वर्गो की संख्या का अंदाजा लगाने के लिए सर्वे करे और ये भी पता लगाएं कि उनमें से कितने लोग गरीबी रेखा से नीचे हैं।[iv] अगले साल यानी 2007 में लोकसभा में सज्जन कुमार और करुणा शुक्ला ने ऐसा ही सवाल उठाया और गृह मंत्रालय की तरफ से एक बार फिर बताया गया कि आजादी के बाद से जाति आधारित जनगणना नहीं हुई है और आगे भी जाति आधारित जनगणना कराने का कोई प्रस्ताव नहीं है। इस सवाल के जवाब में एक महत्वपूर्ण जानकारी यह दी गई कि सरकार धर्म को जनगणना में इसलिए शामिल करती है क्योंकि अनुसूचित जाति के निर्धारण में इस जानकारी का महत्व है।[v]

2011 की जनगणना से छह साल पहले राज्यसभा सदस्य सुरेंद्र नाथ और पाल परमार ने गृह मंत्री ये यह जानना चाहा था कि क्या जनगणना के फॉर्म में जाति का कॉलम नहीं है और अगर ऐसा है तो सरकार एससी, एसटी और ओबीसी को उनकी बढ़ी हुई आबादी के हिसाब से आरक्षण कैसे देती है। उन्होंने यह भी पूछा था कि क्या सरकार जाति आधारित जनगणना कराने वाली है। इस सवाल के जवाब में केंद्रीय गृह राज्य मंत्री मानिकचंद्र गावित ने माना कि जनगणना में जाति का कॉलम नहीं होता और आजादी के बाद से ही अलग अलग जातियों, नस्लों आदि के बारे में जनगणना में जानकारी नहीं जुटाई जाती है। लेकिन वे जवाब देने के क्रम में यह भूल गए कि उनसे यह भी पूछा गया है कि अलग अलग समुदायों की बढ़ी हुई आबादी के हिसाब से आरक्षण कैसे दिया जाता है।[vi] इस सवाल का जवाब देना सरकार के लिए मुश्किल था क्योंकि इससे जाति आधारित जनगणना न कराने पर सवाल खड़े हो जाते।[vii]

बीजेपी के लोकसभा सदस्य और अब केंद्रीय मंत्री हंसराज गंगाराम अहीर ने यूपीए सरकार के दौरान जब ये जानना चाहा कि क्या सरकार अगली जनगणना में ओबीसी की गिनती करेगी तो सरकार का जवाब था कि राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को ओबीसी और गरीबी रेखा से नीचे के लोगों की संख्या के बारे में अनुमान लगाने के कहा गया है। उन्होंने यह भी जानना चाहा था कि सरकार ओबीसी की संख्या जाने बगैर इन वर्गो के कल्याण के लिए बनी योजनाओं को पैसे किस आधार पर जारी करती है। इस पर विभागीय मंत्री ने जवाब दिया कि केंद्र सरकार की योजनाओं के लिए राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को उनकी जरूरत और बजट की उपलब्धता के आधार पर पैसे उपलब्ध कराए जाते हैं।

2011 की जनगणना से पांच साल पहले राज्यसभा में उदय प्रताप सिंह के एक सवाल के जवाब में केंद्रीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री सुब्बुलक्ष्मी जगदीशन ने कहा कि अन्य पिछड़े वर्गो के सामाजिक आर्थिक उत्थान के लिए ओबीसी का डाटा होना चाहिए। यह आंकड़ा उनके कल्याण के लिए योजनाएं बनाने में उपयोगी होगा। जाहिर है कि सरकार इस जरूरत से इनकार नहीं करती कि ओबीसी के बारे में आंकड़ा होने चाहिए। लेकिन वर्षो से वह इस जानकारी को इकट्ठा करने में टालमटोल कर रही है। जनगणना के बदले सर्वेक्षण कराने के पीछे क्या तर्क है, यह कभी नहीं बताया गया। जबकि यह स्पष्ट है कि कोई भी सर्वेक्षण जनगणना का विकल्प नहीं है और जनगणना से ही सबसे विश्वसनीय आंकड़े मिल सकते हैं।[viii]

2010 में लोकसभा में पूछे गए एक सवाल के जवाब में सरकारी ने हाल के वर्षो में संभवत: पहली बार संसद को यह बताया कि 1951 के बाद से जाति आधारित जनगणना क्यों नहीं की जा रही है। तब के केंद्रीय गृह राज्य मंत्री अजय माकन ने बताया कि 1951 के बाद से हर जनगणना में अनुसूचित जाति और जनजाति के आंकड़े तो जुटाए जाते है, लेकिन इनके अलावा किसी और जाति के आंकड़े इकट्ठा नहीं किए जाते। इस फैसले के पीछे संविधान की प्रस्तावना में वर्णित सेकुलर स्टेट (धर्मनिरपेक्ष राज्य) की अवधारणा की भावना को ध्यान में रखा गया है।[ix] यह एक विचित्र व्याख्या है और आश्चर्य है कि मंत्री के इस जवाब के लिए उन्हें कटघरे में खड़ा नहीं किया गया। सेकुलर स्टेट होने के बावजूद भारत सरकार आजादी के बाद से हर दस साल पर लोगों के उनका धर्म पूछती है, देश के ज्यादातर दफ्तरों में कागजी कार्यवाही के दौरान धर्म पूछा और बताया जाता है,

लेकिन जाति नहीं पूछ सकते क्योंकि इससे सेकुलर स्टेट की अवधारणा को चोट पहुंचती है!

केंद्रीय गृह राज्य मंत्री अजय माकन ने लोकसभा में पूछे गए एक सवाल के जवाब में बताया कि जाति जनगणना कराने के लिए पश्चिम बंगाल सरकार,। IOBC, OFT, OBC एंप्लाइज वेलफेयर एसोसिएशन, चेन्नई, मोस्ट बैकवर्ड क्लास ऑफिसर्स एसोसिएशन, पटना, नेशनल सोशल जस्टिस फोरम, रेवाड़ी, ऑल इंडिया अदर वैकवर्ड क्लासेस एंप्लाइज इन इंडियन ऑर्डिनेंस एंडर्डिनेंस इक्विपमेंट फैक्टरीज वेलफेयर एसोसिएशन, तिरुचिरापल्ली समेत अन्य संगठनों ने ज्ञापन दिए थे।[x]

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय की स्थायी समिति की रिपोर्ट [xi]

चौदहवीं लोकसभा में राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम के बारे में रिपोर्ट देने के दौरान स्थायी समिति ने ओबीसी की संख्या के बारे में पड़ताल की और अपनी सिफारिश भी दी। समिति में सभी बड़े दलों के सांसद होते हैं और इस समिति की अध्यक्ष बीजेपी की सांसद सुमित्रा महाजन थीं। समिति ने सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय से पूछा कि पिछड़े वर्गों के लोगों की कुल संख्या और गरीबी रेखा से दोगुने ऊपर के स्तर पर रहने वालों की संख्या के बारे में जब कोई आंकड़ा ही नहीं है तो सरकार ओबीसी के लिए विभिन्न योजनाओं के लक्ष्य कैसे तय करती है। इस सवाल के जवाब में मंत्रालय ने बताया कि पिछड़े वर्गों की आबादी के बारे में कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। इसलिए जनसंख्या के आधार पर कोई लक्ष्य तय नहीं किया जा सकता। इस वजह से राज्यों को जो रकम दी जाती है वह उसकी कुल आबादी के अनुपात में होती है।

समिति की एक बैठक के दौरान मंत्रालय के सचिव ने बताया,

''पिछड़े वर्गो की कोई गणना नहीं हुई है। इसलिए हम उनकी कुल संख्या के बारे में भी नहीं जानते। उनमें से कितने लोग गरीबी रेखा से दोगुने स्तर के ऊपर है, ये जान पाना तो बहुत दूर की बात है। इस बात को जनगणना करने वालों के समक्ष उठाया गया था। लेकिन उन्होंने तय किया है कि अन्य पिछड़े वर्गो की अलग से गणना नहीं की जाएगी। इसलिए हमारे पास आंकड़े नहीं हैं। हमने लिखा कि ऐसी गणना होनी चाहिए, जिसे मानने से उन्होंने इनकार कर दिया।''

संसदीय समिति ने मंत्रालय से दोबारा पूछा कि क्या उसने इस मामले को जनगणना करने वाले अधिकारियों के समक्ष दोबारा उठाया है तो मंत्रालय ने जबाव दिया कि यह मसला भारत के रजिस्ट्रार जनरल के समक्ष उठाया गया है और उनका जवाब ये है कि 2001 की जनगणना में ओबीसी की गिनती नहीं हुई थी, इसलिए यह आंकड़ा नहीं दिया जा सकता है। समिति ने पूछा कि क्या मंत्रालय ने रजिस्ट्रार जनरल के सामने यह प्रस्ताव रखा है कि अगली जनगणना में ओबीसी का आंकड़ा इकट्ठा किया जाए तो मंत्रालय ने जवाब दिया कि 24 मई 2005 को रजिस्ट्रार जनरल से यह अनुरोध किया गया है कि ओबीसी की गणना कराने पर विचार किया जाए।

जाति आधारित आंकड़े न होने से किस तरह की दिक्कत होती है, इसका प्रमाण 24 मई को हुई समिति की बैठक में एक सदस्य के बयान से मिलता है।

''मंडल आयोग के मुताबिक पिछड़े वर्गो की संख्या 52 फीसदी है। जब तक कि जनगणना सही तरीके से नहीं हो जाती और यह पता नहीं चल जाता कि देश में दरअसल कितने ओबीसी हैं तब तक इसे ही हम आधार मान लेंगे।...इसके आधार पर ही योजना के लिए रकम दी जा सकती है।"

संसदीय समिति की सिफारिश

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम पिछड़े वर्ग के उन लोगों को स्वरोजगार के लिए कर्ज देता है जिनकी आमदनी गरीबी रेखा के लिए तय आमदनी के दोगुने से कम है। लेकिन मंत्रालय के पास न तो इस बात का आंकड़ा है कि देश में कितने ओबसी हैं और न ही ये जानकारी है कि उनमें कितने की आमदनी गरीबी रेखा के लिए तय आमदनी के दोगुने से कम है। इस वजह से मंत्रालय पिछड़े वर्ग के लिए बनाई जाने वाली योजनाओं के लक्ष्य तय नहीं करता। संसदीय समिति का मानना है कि पिछड़े वर्गो के बारे में सटीक जानकारी के बिना राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम अपने लक्ष्यों को हासिल नहीं कर सकता। समिति का मानन है कि मंत्रालय को रजिस्ट्रार जनरल पर इस बाते के लिए दबाव डालना चाहिए कि वह ओबीसी के बारे में सर्वे कराए ताकि राज्य सरकारों को पिछड़े वर्गो के विकास के लिए फंड दिया जा सके।

संसदीय समिति की रिपोर्ट और सरकार का टालमटोल

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय से जुड़ी स्थायी संसदीय समिति की रिपोर्ट सरकार के गले में अटक सी गई थी। इस रिपोर्ट के आने के बाद 24 मई, 2005 को

मंत्रालय ने गृह मंत्रालय के अधीन काम करने वाले रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया को एक पत्र (20012-21-2004-BCC) भेजकर कहा कि संसदीय समिति का कहना है कि पिछड़े वर्गों की विकास योजनाएं किनके लिए चलाई जा रही हैं, यह जानने के लिए पिछड़े वर्गों की गिनती करना जरूरी है। इसलिए इस मसले पर विचार किया जाए। इसका जवाब देने में रजिस्ट्रार जनरल ने लंबा समय लिया और 19 जुलाई 2005 को पत्र (F-No- 18-2-2004-SS) लिखकर कहा कि आजादी के बाद से ही भारत सरकार ने सोच समझकर यह फैसला किया है कि अनुसूचित जाति और जनजाति के अलावा किसी और जाति की जनगणना नहीं की जाएगी।

स्पष्ट देखा जा सकता है कि गृह मंत्रालय और रजिस्ट्रार जनरल का दफ्तर इस मामले को टालने में जुटा रहा। आजादी के बाद के अन्य जातियों की जनगणना न होने के तर्क को 2005 में भी दिया जाता रहा जबकि लगभग दस साल पहले मंडल आयोग की रिपोर्ट लागू होने के बाद स्थिति बदल चुकी थी। पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए सरकार कई योजनाएं चला रही थीं और उनके बेहतर संचालन के लिए आंकड़ों की जरूरत थी।

रजिस्ट्रार जनरल के पत्र के बाद भी मामला मंत्रालयों के बीच घूमता रहा। 11 जुलाई 2006 को सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय के संयुक्त सचिव अरविंद प्रसाद ने रजिस्ट्रार जनरल को पत्र (20012-21-2004-BCC) लिखकर मामले पर फिर से विचार करने को कहा। इस पत्र के जवाब में रजिस्ट्रार जनरल की ओर से बताया गया कि ओबीसी की संख्या के बारे में सर्वे कराने और डाटा देने में क्या दिक्कतें हैं:

जाति आधारित जनगणना और ओबीसी का आंकड़ा जुटाने में ''दिक्कतें''

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय द्वारा ओबीसी के आंकड़े के लिए बार बार जोर देने पर रजिस्ट्रार जनरल ने 27 जुलाई, 2006 को एक नोट भेजकर बताया कि ऐसा करने में क्या दिक्कतें हैं। नीचे उस नोट (No-18-2-2004-SS (Gen-)) के अंश दिए गए हैं:

संवैधानिक व्यवस्थाओं के तहत 1951 से अनुसूचित जाति और जनजाति की गणना होती रही है। लेकिन ओबीसी की गणना को हमेशा सबसे मुश्किल माना गया क्योंकि इसके साथ काफी पेचीदगियां जुड़ी हैं। आजादी से पहले जाति और ट्राइब्स की गणना में संपूर्णता और परिशुद्धता में कमी की वजह से भी ओबीसी की गणना को मुश्किल माना गया।

1. भारत में अनुसूचित जाति और जनजातियों की कुल संख्या 1885 है। लेकिन 2001 की जनगणना में इन समुदायों के 18,748 से ज्यादा नाम सामने आए। उनमें कई उपनाम (सरनेम), गोत्र के नाम और कई ऐसे नाम भी थे जो अनुसूचित जाति या जनजाति के नहीं थे। केंद्रीय सूची के मुताबिक ओबीसी जातियों की संख्या लगभग 6000 है। समझा जा सकता है कि ओबीसी की जनगणना हुई तो कितनी बड़ी संख्या में जाति नाम सामने आएंगे। उपजातियों के बारे में जानकारी भी काफी कम है। कई जातियों के मिलते जुलते नामों की वजह से भी दिक्कतें आएंगी।

2. जाति सामाजिक और राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग है, इसलिए इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अपनी संख्या को बढ़ा चढ़ाकर दिखाने के लिए संगठित या गुपचुप तरीके अपनाए जाएंगे। इससे जनगणना के नतीजों पर असर पड़ सकता है।

---

[i] राज्यसभा अतारांकित प्रश्न 798, उत्तर दिए जाने की तारीख 3 जून, 1998
[ii] रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया-ऑफिस मेमोरेंडम-18-2-2004-SS (Gen-)
[iii] राज्यसभा अतारांकित प्रश्न 3009, उत्तर दिए जाने की तारीख 22 मार्च, 2001
[iv] राज्यसभा अतारांकित प्रश्न 2349, उत्तर दिए जाने की तारीख 13.12.2006
[v] लोकसभा अतारांकित प्रश्न 569, उत्तर दिए जाने की तारीख 15.05.2007
[vi] राज्य सभा अतारांकित प्रश्न 1031. उत्तर दिए जाने की तारीख- 03.08.2005
[vii] लोकसभा अतारांकित प्रश्न -1461, उत्तर दिए जाने की तारीख- 30.11.2006
[viii] राज्य सभा अतारांकित प्रश्न 1309. उत्तर दिए जाने की तारीख- 04.12.2006
[ix] लोकसभा अतारांकित प्रश्न -102, उत्तर दिए जाने की तारीख- 23.02.2010
[x] लोकसभा अतारांकित प्रश्न -175, उत्तर दिए जाने की तारीख- 23.02.2010
[xi] http://164.100.47.134/lsscommittee/Social%20Justice%20&%20Empowerment/15rep.pdf

जनगणना के इस इतिहास को पढ़कर आप सहज ही अंदाजा लगा सकते हैं कि जाति जनगणना के सवाल पर कांग्रेस और बीजेपी दोनों ने किस तरह की टालमटोल अब तक की है।

जाति जनगणना के फायदे

1. समाज को बेहतर, सामाजिक-आर्थिक रूप से उन्नत और खुशहाल बनाने के लिए शासन की तरफ से सामाजिक न्याय, समरसता और एफर्मेटिव-एक्शन की जरूरत पर लगातार बल दिया जा रहा है। ऐसे में सामाजिक समूहों, जातियों और विभिन्न समुदायों के बारे में अद्यतन आंकड़े और अन्य सूचनाएं भी जरूरी हैं। जातियों की स्थिति को भुलाने या उनके मौजूदा सामाजिक-अस्तित्व को इंकार करने से किसी मसले का समाधान नहीं होने वाला है।

2. कुछेक लोगों और टिप्पणीकारों ने आशंका प्रकट की है कि जाति-गणना से समाज में जातिवाद और समुदायों के बीच परस्पर विद्वेष बढ़ जाएगा। यह आशंका इसलिए निराधार है कि अब तक अनुसूचित जाति-जनजाति और धार्मिक समूहों की गिनती होती आ रही है, पर इस वजह से देश के किसी भी कोने में जातिगत-विद्वेष या धार्मिक-सांप्रदायिक दंगे भड़कने का कोई मामला सामने नहीं आया। जातिवाद और सांप्रदायिक दंगों के लिए अन्य कारण और कारक जिम्मेदार रहे हैं, जिसकी समाजशास्त्रियों, मीडिया और अन्य संस्थानों से जुड़े विशेषज्ञों ने लगातार शिनाख्त की है।

3. जनगणना की प्रक्रिया और पद्धति पर सवाल उठाते हुए कुछेक क्षेत्रों में सवाल उठाए गए हैं कि आमतौर पर जनगणना में शिक्षक भाग लेते हैं। ऐसे में वे जाति की गणना में गलतियां कर सकते हैं। यह बेहद लचर तर्क है। जनगणना में आमतौर पर जो शिक्षक भाग लेते हैं, वे स्थानीय होते हैं। जाति-समाज के बारे में उनसे बेहतर कौन जानेगा।

4. कुछेक टिप्पणीकारों ने यह तक कह दिया कि दुनिया के किसी भी विकसित या विकासशील देश में जाति, समुदाय, नस्ल या सामाजिक-धार्मिक समूहों की गणना नहीं की जाती। अब इस अज्ञानता पर क्या कहें। पहली बात तो यह कि भारत जैसी जाति-व्यवस्था दुनिया के अन्य विकसित देशों में नहीं है। पर अलग-अलग ढंग के सामाजिक-समूह, एथनिक-ग्रुप और धार्मिक-भाषायी आधार पर बने जातीय-समूह दुनिया भर में हैं। ज्यादातर देशों की जनगणना में बाकायदा उनकी गिनती की जाती है। अमेरिका की जनगणना में अश्वेत, हिस्पैनिक, नैटिव इंडियन और एशियन जैसे समूहों की गणना की जाती है। विकास कार्यक्रमों के लिए इन आंकड़ों का इस्तेमाल भी किया जाता है। यूरोप के भी अनेक देशों में ऐसा होता है।

रास्ता क्या है?

यह तो तय है कि 2011 की जनगणना के बाद जाति की अलग से जो गणना हुई है, उसके नतीजे शायद कभी नहीं आएंगे। राज्य सरकारें इन आंकड़ों को मानेंगी भी नहीं। मामला अदालत में जाएगा, इसकी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। इस गिनती को जनगणना कानून,1948 का संरक्षण भी नहीं है। 46 लाख जातियों की जो बात अरुण जेटली ने कही है, उसका हिसाब जोड़ने में ही कई दशक लग जाएंगे। इसलिए इस जाति गणना को भूल जाना ही उचित होगा।

जनगणना कराने में सिर्फ एक महीने का समय लगता है। हर दस साल पर फरवरी महीने में देश भर में जनगणना हो जाती है। सरकारी मशीनरी को यह काम करने का इतना बेहतरीन अभ्यास है कि कभी कोई चूक नहीं होती। जनगणना से पहले हाउस लिस्टिंग होती है। 2011 के उसके आंकड़े सरकार के पास मौजूद हैं। सरकार अगर चाहे तो तीन महीने की तैयारी के बाद चौथे महीने जनगणना करा कर नियत समय में जाति जनगणना के आंकड़े जारी कर सकती है।

सवाल नीयत के साफ होने या नहीं होने का है। केंद्र सरकार से पूछा जाना चाहिए कि सरकार आपकी नीयत कैसी है?

पढ़े-लिखे लोगों का हिंदुस्तान

प्रियदर्शन

हिंदुस्तान अपने गरीब और अनपढ़ लोगों के साथ किस तरह पेश आता है, इसका एक दिलचस्प उदाहरण राजस्थान में सामने आया है। वहां इस साल पंचायत चुनाव में आठवीं पास से नीचे के लोगों के चुनाव लड़ने पर पाबंदी लगा दी गई। जाहिर है, यह पाबंदी इस भावना से निकली है कि पढ़े-लिखे लोग आएंगे तो बेहतर व्यवस्था चलाएंगे, लेकिन यह इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि इस देश को उसके अनपढ़ लोगों ने नहीं, पढ़े-लिखे लोगों ने सबसे ज्यादा बरबाद किया है। इस देश के साथ उसके डॉक्टर, इंजीनियर वकील, पत्रकार और अफसर सबसे ज्यादा धोखा करते आ रहे हैं।

बहरहाल, राजस्थान में आठवीं पास से नीचे वालो को चुनाव से बाहर रखने के फैसले का पहला नतीजा यह हुआ कि ग्रामीण राजस्थान की अस्सी फीसदी आबादी चुनाव प्रक्रिया से बाहर हो गई। कायदे से यह भी भारत में बालिग मताधिकार के मौलिक अधिकार और इससे मिलने वाली अचूक राजनीतिक समानता का उल्लंघन है। लेकिन हिंदुस्तान के गरीब और अनपढ़ लोग भी इतने नादान नहीं रह गए हैं। उन्होंने पढ़े-लिखे सयानों लोगों से यह जाना है कि किसी व्यवस्था में सूराख कैसे बनाए जाते हैं। उन्होंने फौरन अपने पढ़े-लिखे होने के सबूत जुटाने शुरू कर दिए। राजस्थान के पंचायत चुनावों में जीत कर आए करीब आठ सौ लोग ऐसे हैं जो जाली सर्टिफिकेट के सहारे जन प्रतिनिधि ा बन गए। अब पुलिस ने इनमें से पौने पांच सौ लोगों के खिलाफ एफआइआर दर्ज कर ली है। इनकी गिरफ्तारी भी शुरू हो गई है।

एक तरह से देखें तो कानून अपना काम कर रहा है। आप फर्ज़ी सर्टिफिकेट देकर चुनाव नहीं लड़ सकते। फर्ज़ी सर्टिफिकेट ही नहीं बनवा सकते। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में जो अनपढ़ गांव वाले थे, वे अपराधी बना दिए गए। बेशक, उन्होंने पहले भी कुछ चालबाज़ियां की होंगी। राजनीति में आने की, या सत्ता में हिस्सा हासिल करने की महत्त्वाकांक्षा न होती तो अपनी सीमाओं के बावजूद वे यहां तक नहीं आए होते। लेकिन यह नौबत क्यों आई ? क्योंकि आपने एक बेमेल कानून बनाया जिसमें पढ़े-लिखे और अनपढ़ लोगों के बीच बेमानी फर्क पैदा कर दिया- इस बात को भुला कर कि इस देश में पढ़ा-लिखा होना ईमानदार होने की गारंटी नहीं है। हमारी शिक्षा कामयाब होने के नुस्खे बताती है, अच्छा बनने की नसीहत नहीं देती- अब तो वह इस हद तक कारोबारी हो चुकी है कि अगर उससे पैसा न कमाया जा सके तो वह शिक्षा बिल्कुल बेकार मान ली जाती है।

जाहिर है, यह पढ़ी-लिखी दुनिया सार्वजनिक जीवन में, राजनीति या समाजसेवा में, या अपनी प्रशासनिक नौकरियों के जरिए लोगों के बीच आती भी है तो बस पैसा कमाने और बनाने पर नजर रखती है। वही सारे कानूनों का तोड़ निकालती है, वही अनपढ़ लोगों को भी यह सिखाती है कि अगर सरकार ने कोई पाबंदी लगाई है तो उससे कैसे पार पाया जा सकता है। अभी तक फर्जी सर्टिफिकेट बनवाने वालों की गिरफ्तारी की खबर तो है, लेकिन जिन्होंने ये सर्टिफिकेट बनवाने में मदद की, उनको पकड़े जाने का, या जिन स्कूलों से ये सर्टिफिकेट बने, उनकी जांच कराने का मामला सामने नहीं आया है। हो सकता है, देर-सबेर वह भी सामने आए, क्योंकि अंततः निष्पक्ष और न्यायप्रिय दिखना व्यवस्था की मजबूरी है। लेकिन पंचायती राज कानून के तहत राजस्थान ने जो तथाकथित 'क्रांतिकारी' पहल की है, उसके इस अवांतर प्रभाव में छुपी यह विडंबना अलक्षित नहीं की जा सकती।

अब इस पहल में एक नई चीज जुड़ गई है। राजस्थान के निकाय चुनाव वे लोग नहीं लड़ सकते जिन्होंने अपने घरों में शौचालय नहीं बनवाए हैं। फिर यह एक बड़ा क्रांतिकारी लगने वाला फैसला है। जिन्हें चुनाव लड़ना है वे शौचालय बनवाएं। लेकिन वे क्या करें जिनके पास शौचालय बनाने के पैसे नहीं हैं, अपने घर में इतनी जगह नहीं है और सरकार की भ्रष्ट व्यवस्था तक पहुंच नहीं है ? जाहिर है, फिर कुछ लोग छूट जाएंगे जो इसके लिए भी कोई फर्जी सर्टिफिकेट जुटाएंगे और अंत में पकड़े जाकर जेल जाएंगे। इसमें संदेह नहीं कि पढ़ाई-लिखाई और शौचालय- दोनों बेहद जरूरी है और इनके लिए थोड़ी बहुत जोर-जबरदस्ती को अन्याय मानना अतिरेक होगा। लेकिन एक लोकतांत्रिक प्रक्रिया से जब आप ऐसी बाध्यता जोड़ देते हैं तो चीजें सुधरती नहीं, बिगड़ जाती हैं। काश कि सरकारें इस बात का खयाल रखतीं।

उच्च शिक्षा का WTO-GATS को सुपुर्द करने के खिलाफ आवाज उठाओ!

WTO भगाओ!! शिक्षा बचाओ!!!

विश्व व्यापार संगठन (WTO) के मातहत उच्च शिक्षा क्षेत्र को वैश्विक व्यापार के लिए खोलेने के लिए भारत सरकार ने ॅ्ञ के पटल पर इस संबंध में 'प्रस्ताव' रख कर इसकी पूरी तैयारी कर ली है। इसके तहत WTO के 160 सदस्य देशों में शिक्षा का व्यवसाय करने वाली फर्मो को हमारे देश में कालेज, विश्वविद्यालय एवं अन्य तकनीकी अथवा पेशेवर द्धप्रोफेशनलऋ संस्थाएं स्थापित कर उन्हे व्यवसायिक मुनाफे के लिए चलाने की पूरी छूट होगी। उक्त 'प्रस्ताव' के मंजूर होते ही WTO के व्यापार संबंधी नियम उच्च शिक्षा क्षेत्र में लागू हो जाएंगे। ऐसा होते ही जनता का शिक्षा का अधिकार, जिसे सुनिश्चित करना सरकार की लोकतांत्रिक जिम्मेदारी है, पूरी तरह खत्म हो जाएगा। WTO- GATS ('जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड इन सर्विसेज' यानी सेवा क्षेत्र में व्यापार के लिए आम समझौता) की शर्तो के तहत बेलगाम निजीकरण एवं बाजारीकरण से शिक्षा न केवल गरीबों के हाथ से निकल जाएगी, बल्कि जो इसका खर्च उठा सकते हैं उन्हे भी केवल नाममात्र की शिक्षा ही मिलेगी। ऐसा इसलिए क्योंकि बाजारीकरण के चलते शिक्षा अपने मूल उद्देश्य से भटक जाएगी और साथ ही पाठ्यक्रम व शिक्षापद्धति में भी गिरावट होगी। इसके साथ ही हमारे शैक्षणिक संस्थाओं की अकादमिक स्वायत्तता, शोध की स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक परिपाटियों में ह्रास होगा। WTO के अंतर्गत बिल्कुल स्पष्ट कानूनी भाषा में शिक्षा को व्यापारिक सेवा या बिकाऊ माल और विद्यार्थी को उपभोक्ता माना गया है। अगर एक बार शिक्षा वैश्विक बाजार के हवाले हो गई तो इतना निश्चित है कि भारत सरकार शिक्षा का व्यापार करने वाले देशी-विदेशी कार्पोरेट के हितों का संरक्षण करने के लिए बाध्य होगी, भले ही इससे देश के अध यापकों और विद्यार्थियों का अहित हो। अगर भारत के हम सब लोग और खासतौर से टीचर व विद्यार्थी समुदाय, उच्च शिक्षा में ॅ्ञ को दिए गए भारत सरकार के 'प्रस्ताव' को वापस कराने में सफल नहीं होते हैं तो हमारा शिक्षा तंत्र हमेशा के लिए विश्व व्यापार संगठन के चंगुल में फंस जाएगा और इसका भविष्य अंधकारमय हो जाएगा।

तथ्य यह है कि भारत सरकार ने 'उच्च शिक्षा उपक्षेत्र' के बाजारीकरण के लिए अगस्त 2005 में ही विश्व व्यापार संगठन के समक्ष 'प्रस्ताव' रखा था। यह दोहा दौर की व्यापार वार्ताओं के क्रम में ही था, जिसकी शुरूआत दोहा, कतर में 2001 में हुई थी। अभी तक इस पर अमल नही हो पाया है क्योंकि पिछले दस वर्षो में व्यापार-वार्ताओं में सभी सदस्य देशों के बीच सहमति नही बन पायी है। योजना यह है कि विश्व व्यापार संगठन में इस व्यापार-वार्ताओं को जुलाई माह के बाद तेजी से आगे बढ़ाया जाए और इसी वर्ष 15 से 18 दिसंबर में नैरोबी, केन्या में आयोजित दसवें मंत्री-स्तरीय सम्मेलन में सफलतापूर्वक पूरा किया जाए। स्पष्ट रूप से इस सम्मेलन का उद्देश्य विश्व व्यापार संगठन के कार्य क्षेत्र का विस्तार करना है। भारत सरकार ने अगर सम्मेलन के पहले ही उच्च शिक्षा के 'प्रस्ताव' को वापस नहीं लिया तो अपनेआप ही यह क्षेत्र हमेशा के लिए उसके दायरे में आ जाएगा और देश के लिए इसके दूरगामी दुष्प्रभाव होंगे।

व्यापार-वार्ताओं में तेजी का दौर: विश्व व्यापार संगठन के सामान्य परिषद की एक विशेष बैठक नवंबर 2014 में जिनेवा में आयोजित हुई। इस बैठक में दोहा दौर की वार्ताओं के बढ़ते कार्यक्षेत्र को सीमित करने के लिए संघर्षरत अल्प-विकसित एवं विकासशील देशों के दस वर्ष लंबे प्रतिरोध को व्यवस्थित रूप से दबाने की प्रक्रिया अपने चरम पर पहुंच गई। यहां तय किया गया कि जुलाई 2015 तक व्यापार वार्ताओं के 'कार्यक्रम' को अंतिम रूप दिया जाए और इसके बाद दिसंबर 2015 में विश्व व्यापार संगठन के मंत्री-स्तरीय सम्मेलन का आयोजन किया जाए, जो इसका शीर्ष निकाय है। यह सम्मेलन अल्प-विकसित तथा विकासशील देशों तथा पूरी दुनिया के मेहनतकश आवाम के लिए अत्यंत घातक होगा। दसवें मंत्री-स्तरीय बैठक में लिए गए निर्णय के बाद कृषि के साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, सार्वजनिक वितरण प्रणाली जैसी सेवाएं एवं जनता के सभी हक व्यापार के दायरे में आ जाएंगे। इन मुद्दों पर वार्ताओं का क्रम दोहा (कतर) में आयोजित चौथे

मंत्री-स्तरीय सम्मेलन के साथ 2001 में ही शुरू हो गया था। लूट की इस योजना से देशों की संप्रभुता खत्म होगी। खतरे को भांपते हुए पूरी दुनिया के अनेक संगठनों ने दसवें मंत्री-स्तरीय सम्मेलन के विरोध का संकल्प लिया है। संकट के इस दौर में शिक्षा प्रेमी चुप नहीं बैठ सकते।

साम्राज्यवाद के बढ़ते कदम: विश्व व्यापार संगठन ने दुनिया को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है- 1. विकसित 2. विकासशील, और 3. अल्प विकसित। विकसित एवं विकासशील देशों के बीच की आर्थिक असमानता वस्तुत: साम्राज्यवादी लूट का नतीजा है। विश्व व्यापार संगठन का गठन विकसित देशों के हितों के संरक्षण के लिए हुआ है और ये विकासशील देशों के हितों के खिलाफ है। भारत जैसे विकासशील देशों ने विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता देश के कार्पोरेट घरानों हितों के लिए ग्रहण की और जनता को आश्वस्त किया है कि विकास से निकले 'रिसाव' (ट्रिकल डाउन) से उसे भी लाभ मिलेगा। विगत दो दशक में विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्गत किए गए विभिन्न समझौतों की वजह से सभी देशों में वर्गीय और सामाजिक असमानताओं (यथा, जाति, नस्ल, लिंग, भाषा एवं विकलांगता संबंधी) तथा राष्ट्रों के बीच गैर-बराबरी की स्थिति गंभीर हुई है। दसवीं मंत्री-स्तरीय बैठक में विश्व व्यापार संगठन के क्रियाकलाप में प्रस्तावित विस्तार से इसकी प्रक्रिया और तेज होगी। विडंबना यह है कि 'दोहा चक्र व्यापार वार्ता' को 'दोहा विकास एजेंडा' भी कहा जाता है, क्योंकि गरीब देशों को लुभाने के लिए इसमे कुछ 'राहत उपाय' भी किए गए हैं।

गैट्स और शिक्षा: विश्व व्यापार संगठन मुख्य रूप से तीन एकीकृत बहुपक्षीय समझौतों पर आधारित हैं- 1. 'जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एंड टैरिफ', 1994 (गैट/GATT; व्यापार एवं शुल्क संबंधी सामान्य समझौता), इसमें कृषि संबंधी समझौता 'एग्रीमेंट ऑन एग्रीकल्चर' भी शामिल है; 2. ट्रेड रिलेटेड इन्टेलेक्चुअल प्रापर्टी राइट्स (ट्रिप्स/TRIPS, व्यापार संबंधी बौद्धिक संपदा अधिकार), एवं 3. 'जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड इन सर्विसेज' (गैट्स/GATS, सेवा क्षेत्र में व्यापार के लिए आम समझौता)। इसी तीसरे समझौते के तहत शिक्षा के अर्थ का अवमूल्यन करते हुए उसे 'व्यापारिक सेवा' के अन्तर्गत रखा गया। समझौते के अनुसार शिक्षा का व्यापार गैट्स परिषद (सेवा व्यापार परिषद) द्वारा प्रशासित होगा। विडंबना यह है कि यह परिषद इन्हीं नियमों से मनोरंजन के क्लब और मदिरालयों जैसी 'सेवाओं' का भी नियमन करेगी। हालांकि सदस्य देशों को कुछ सीमा तक स्थानीय विनियांकन की छूट होगी। देश में गैट्स सेवाओं को परिचालित करने के लिए सदस्य देशों को क्षेत्रवार व प्रणालीवार 'प्रस्ताव' देना है और अंतत: बाजारीकरण के लिए प्रतिबद्धता जतानी है।

व्यापार की चार प्रणालियाँ: गैट्स ने शिक्षा सेवा को पांच उपक्षेत्रों में बाँटा है- 1. प्राथमिक शिक्षा, 2. माध्यमिक शिक्षा, 3. उच्च शिक्षा, 4. प्रौढ़ शिक्षा, एवं 5. अन्य शिक्षा। भारत सरकार ने उच्च शिक्षा उपक्षेत्र के लिए अपना 'प्रस्ताव' प्रस्तुत किया है। इसके अलावा गैट्स ने सभी सेवाओं में व्यापार की चार प्रणालियां बनाई है। ये इस प्रकार हैं-

क) सीमा पार आपूर्ति छात्र विदेशी आपूर्तिकर्ताओं से पत्राचार के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करेंगे एवं सेवा प्रभार देंगे। ख) विदेश में उपभोग: छात्र शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश जाएंगे और सेवा प्रभार का भुगतान करेंगे। ग) वाणिज्यिक उपस्थिति: विदेशी प्रदाता यहां कालेज एवं विश्वविद्यालय खोलेंगे, सेवा देंगे एवं सेवा प्रभार वसूल करेंगे। घ) प्राकृतिक व्यक्तियों की उपस्थिति: विदेशी अध्यापक कार्यगत रूप से भारतीय शिक्षण संस्थाओं में अपनी सेवा देंगे और सेवा प्रभार लेंगे। इन चारों मामलों में जैसे ही भारत का बाजार खुलेगा, भारत के सभी नागरिक ग्राहक हो जाएंगे, विदेशी व्यक्ति पारिश्रमिक प्राप्त करंगे एवं विदेशी कार्पोरेट मुनाफा कमाएंगे। यदि हम पैसे के सवाल को छोड़ भी दें तो सबसे बुरी बात यह है कि शिक्षा को व्यापारिक सेवा के रूप में अवमूल्यित किया गया। इस उद्योग पर पूरा नियंत्रण वैश्विक कार्पोरेट ताकतों का होगा और इससे भी बुरा प्रभाव यह होगा कि एक बार समझौता संपन्न हो जाने पर लागू करना अनिवार्य होगा। इससे पीछे नही हटा जा सकेगा।

विदेशी सेवा प्रदाता: यदि विदेशी विश्वविद्यालय देश में ज्ञान के प्रसार एवं विनिमय के लिए आते और इनका उद्देश्य परस्पर शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक संबंधों का विकास होता तो इनके विरोध की आवश्यकता नहीं थी। भारत के इतिहास इस तरह का परस्पर लेन-देन होता रहा है और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान महात्मा गाँधी एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इसे प्रोत्साहित किया। लेकिन विश्व व्यापार संगठन के दौर में ऐसी बात नहीं है। इसके अन्तर्गत तो विश्वविद्यालय केवल मुनाफा कमाने आ रहे है। यही नहीं, अनेक दोयम दर्जे के विश्वविद्यालय भी यहां अपनी शाखा खोलकर मुनाफा कमाएंगे सन 2000 में हुए विश्व बैंक के

एक सर्वेक्षण रपट से यह प्रमाणित है कि विकसित देशों के जाने-माने विश्वविद्यायों ने पिछड़े देशों में घटिया दर्जे की शाखाओं की स्थापना की।

आंतरिक विनियमनः विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्गत विधिमान्य एजेंसी है- व्यापार नीति समीक्षा तंत्र (ट्रेड पॉलिसी रिव्यु मेकेनिज्म या TPRM)। इसी के तहत निर्मित अधिकृत निकाय विभिन्न देशों की व्यापार नीतियों की वार्षिक समीक्षा करेगा और देशों को संबंधित नीतियों में बदलाव के लिए सुझाव देगा। विश्व व्यापार संगठन के निकायों द्वारा इस तरह के कार्य स्पष्ट रूप से किसी देश के आंतरिक मामलें में दखल एवं उसकी संप्रभुता का हनन है। इस बात की पूरी संभावना है कि विश्व व्यापार संगठन सदस्य देशों के नीति दृष्टिकोण को अपने अनुकूल प्रभावित करेगा। विकासशील एवं अल्प-विकसित देश इस प्रावधान के शिकंजे में फंस जाएंगे। व्यापार नीति समीक्षा तंत्र के अधिकारियों के पास मानव संसाधन मंत्री एवं मंत्रालय के सचिवों से मिलने का पूरा अधिकार होगा और वे शिक्षा के कथित सुधार के अपने एजेंडा को लागू कराने के लिए वार्षिक समीक्षा व पूछताछ करेंगे। मानव संसाधन मंत्री भारत की जनता से ज्यादा इस संस्था के प्रति जवाबदेह होंगे। सं.प्र.ग. शासन में विश्व व्यापार संगठन की मांग के अनुसार आंतरिक विनियमन को परिवर्तित करने के लिए उच्च शिक्षा संबंधित छः विधेयक संसद में रखे गए लेकिन कोई विधेयक पारित नहीं हुआ। इस बात की पूरी संभावना है कि मौजूदा सरकार इसी तरह का विधेयक लाए और उसे पारित कराने का प्रयास करे। इस तरह विश्व व्यापार संगठन एवं इसके अनुषंगी संगठनों द्वारा 'आंतरिक विनियमन' से सदस्य देशों, विशेष रूप से अन्य विकसित एवं विकासशील देशों की संप्रभुता का अतिक्रमण होगा।

स्वतंत्र विनियामक प्राधिकरणः हाल में ही अनेक सेवा क्षेंत्रों के लिए स्वतंत्र विनियामक प्राधिकरणों (इंडिपेन्डेन्ट रेग्युलेटरी अथॉरिटी, IRA) की स्थापना की गई है। इनमें प्रमुख रूप से ऊर्जा, जल, बीमा, दूरसंचार इत्यादि सेवाओं के लिए स्थापित किए गए प्राधिकरण हैं। उच्च शिक्षा 'सुधार' के लिए सन् 2000 में अंबानी-बिरला रपट प्रस्तुत की गई, जिसमें बाजारोन्मुखी शिक्षा की बात थी। सैम पित्रोदा की अध्यक्षता वाले राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (2006) का भी सुझाव था कि 'उच्च शिक्षा का स्वतंत्र विनियामक प्राधिकरण बनाया जाए। प्रो. यशपाल ने भी 'उच्च शिक्षा के नवीकरण एवं कायाकल्प' (2008) पर अपनी रपट दी जिसमे सिफारिश थी कि एक सर्वोच्च संस्था 'उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान राष्ट्रीय आयोग' का गठन किया जाए। इस आयोग में वर्तमान सभी शैक्षणिक निकायों यू.जी.सी. (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग), ए.सी.टी.ई. (तकनीकी शिक्षा राष्ट्रीय परिषद), एन.सी.टी.ई. (शिक्षक शिक्षण के लिए राष्ट्रीय परिषद), एम. सी. आई. (भारतीय चिकित्सा परिषद), बी.सी.आई. (बार काउन्सिल ऑफ इंडिया) इत्यादि को या तो समाहित कर लिया जाए या इन्हें खत्म कर दिया जाए। इस तरह के प्राधिकरणों का स्पष्ट उद्देश्य यही है कि उच्च शिक्षा संस्थानों के वर्तमान सांविधिक निकायों एवं उनकी स्वायत्तता को खत्म कर दिया जाए और इसी के साथ केंद्र एवं राज्य सरकार का कानूनी उत्तरदायित्व एवं जवाबदेही भी खत्म हो जाए। इस तरह के प्राधिकरणों की स्थापना गैट्स के प्रावधानों के प्रति वचनबद्धता को पूरा करने के लिए ही की जा रही है। अन्य सेवा क्षेत्रों के लिए स्थापित किए गए प्राधिकरणों की ही तरह शिक्षा सेवा क्षेत्र के लिए स्थगित होने वाला प्राधिकरण भी जन 'दबाव' से मुक्त होगा एवं आंतरिक तथा विदेशी पूंजी के पक्ष में इस क्षेत्र का विनियमन करेगा। यू.पी.ए. सरकार द्वारा 'राष्ट्रीय उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान आयोग' के गठन का प्रयास शिक्षा संबंधी अन्य विधेयकों के साथ ही विफल हो गया, लेकिन भाजपा ने भी अपने चुनाव घोषणापत्र (2014) में इसी तरह का निकाय बनाने की घोषणा की थी।

समय की पुकारः विश्व व्यापार संगठन-गैट्स शिक्षा को उपभोग के माल और विद्यार्थी को उपभोक्ता में बदल दिया है। इससे शिक्षा से गरीब तो वंचित होंगे ही, साथ ही वे भी जो पैसा खर्च कर सकते हैं क्योंकि सारी शिक्षा का कार्पोरेट हित में अवमूल्यन कर दिया जाएगा। इसी के साथ शिक्षा की प्रबोधनकारी, परिवर्तनकामी और सशक्तिकरण की भूमिका भी समाप्त हो जाएगी जो व्यक्ति को एक सक्षम नागरिक बनाती है। एक ऐसा नागरिक जिसके मन में समाज की बहुलता के प्रति, सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद के प्रति सम्मान हो, जो संवैधानिक व लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति जागरूक हो और राष्ट्र की संप्रभुता एवं स्वतंत्रता की रक्षा करने में समर्थ हो। शिक्षा प्रेमी लोग एवं संगठन 1998 से ही उच्च शिक्षा को विश्व व्यापार संगठन-गैट्स के दायरे में लाने का विरोध हर सरकार के शासन काल में करते रहे हैं। इसी समय विश्व व्यापार संगठन ने शिक्षा को अपने दायरे में लेने का प्रयास शुरू किया था। विरोध के बावजूद सरकार ने विश्व व्यापार

संगठन के बाहर शिक्षा के सभी क्षेत्रों के लिए सन् 2000 में शत-प्रतिशत विदेशी निवेश को अनुमति दिया एवं उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अगस्त 2005 में विश्व व्यापार संगठन को प्रस्ताव दिया। दोहा चक्र की व्यापार-वार्ता दिसंबर 2015 में पूरी होने की संभावना है। बाजारीकरण के इस प्रस्ताव को वापस लेने के लिए मजबूत आंदोलन की शुरुआत अभी करनी होगी क्योंकि आगे सारे रास्ते बंद हो जाएंगे। अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच के माध्यम से हम सभी जनहितैषी संगठनों, कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों, अध्यापकों, छात्रों एवं संघर्षशील जनसमूह से एक साथ संकल्पबद्ध होकर संघर्ष करने की अपील करते हैं, ताकि देश की शिक्षा व्यवस्था पर इस नवउदारवादी हमले को रोका जा सके, उच्च शिक्षा में WTO-GAT को दिए गए 'प्रस्ताव' को वापस कराया जा सके और अपने देश को व लोगों को बंधुआ होने से बचाया जा सके।

निवेदक , **अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच।**

श्रद्धांजलि

परेश जी का जाना

शिवदयाल

जन्म : जनवरी, 1937, **निधन :** 15 जुलाई, 2015

परेश जी नहीं रहे! समाजवादी मूल्यों के प्रति समर्पित कवि, नाटककार, कथाकार परेश सिन्हा! ट्रेड यूनियन एक्टिविस्ट परेश सिन्हा! सन् चौहत्तर आंदोलन के दौरान नुक्कड़ कविताओं के प्रणेताओं में एक परेश सिन्हा, अपने युग और समय पर चौकस निगाह रखने वाले और अपनी सृजनात्मकता के माध्यम से हस्तक्षेप करने वाले बुद्धिजीवी परेश सिन्हा। संवेदनशील, हंसमुख, मिलनसार और परदु:खकातर परेशजी!

परेशजी की सृजनात्मकता अनेक विधाओं में प्रस्फुटित हुई, लेकिन उनकी सबसे पुख्ता पहचान नाटककार की रही है। अनेक चर्चित नाटक इन्होंने लिखे -'गाँधी नहीं मरेगा', 'कटे हुए लोग', 'चेहरा दर चेहरा' आदि। साथ ही इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण नाटकों का सफल मंचन भी किया, जैसे- 'घासी राम कोतवाल' (विजय तेन्दुलकर), 'रस गंधर्व' (मणि मधुकर), 'सृष्टि का आखिरी आदमी' (धर्मवीर भारती), 'सगुन पंछी' (लक्ष्मी नारायण लाल), 'दूसरी सीता' (स्नेहलता रेड्डी) तथा 'इकतारे की आँख' आदि। परेशजी ने भारतीजी की प्रसिद्ध कविता 'मुनादी' का नाट्य रुपांतरण किया और पटना के आयकर चौराहे (जहां जेपी पर नवम्बर 1974 को लाठियाँ चली थीं) पर स्थापित जेपी की प्रतिमा के अनावरण के अवसर पर उसका मंचन भी किया था। बतौर उनके नाट्यकर्मी पुत्र सुनील परेश, उन्होंने 'कितने पाकिस्तान' (कमलेश्वर) का मंचन कई साल पहले किया था जबकि यह उपन्यास अभी छपा भी नहीं था।

परेशजी ने 'रुपाक्षर' नाम से एक नाट्य संस्था बनाई थी और इसी बैनर पर नाटकों का मंचन करते रहे। 'रुपाक्षर' नामक अनियतकालीन नाट्य पत्रिका का भी उन्होंने संपादन किया। इसके साथ ही उन्होंने 1996 में एक टेलीफिल्म 'अंधेरे के विरुद्ध' का लेखन किया, जबकि एक अन्य टेलीफिल्म 'एक मुहिम यह भी' का 1999 में निर्देशन भी किया। सत्तर के दशक में वे नाटक के क्षेत्र में काफी सक्रिय रहे। उन दिनों वे राजेन्द्रनगर रेलवे गुमटी के पास के रेलवे क्वार्टर में रहते थे जो साहित्यिक व रंगकर्मीय ही नहीं आन्दोलनात्मक गतिविधियों का भी केन्द्र हुआ करता था।

लेखन के क्षेत्र में वे पचास के दशक से ही सक्रिय थे। उसी दौर में वे समाजवादी आंदोलन से भी जुड़े रहे और बाद में ऑल इंडिया रेलवे मेंस फेडरेशन के पदाधिकारी भी रहे। अनेक साहित्यिक विभूतियों से इनकी नजदीकी थी। विशेषकर कथा शिल्पी रेणु व कमलेश्वर से इनका निकट का संपर्क रहा। बाबा नागार्जुन का भी सान्निध्य उन्हें प्राप्त था। चौहत्तर आंदोलन में जयप्रकाश जी के आवाहन पर रेणुजी के नेतृत्व में रचनाकारों को जो टोली सड़कों पर आई उनमें परेश सिन्हा भी सक्रिय रूप से शामिल थे। स्वयं परेश जी के शब्दों में- ''17 अप्रैल को जेपी के निर्देश पर रेणुजी कुछ साहित्यकारों के साथ अनशन पर बैठे थे। स्थान था लखनऊ स्वीट्स हाउस का बाहरी चबूतरा (फ्रेजर रोड), इसी स्थल पर रेणुजी ने साहित्यकारों को आह्वान किया था, दिनकर की इन पंक्तियों में- 'समर शेष' को 'समर क्षेत्र' करके संशोधित कर कर दिया था- 'समर क्षेत्र है नहीं पाप का भागी केवल व्याध, जो तटस्थ है समय लिखेगा उनका भी इतिहास'। 'अनशन पर बैठने वालों में थे सर्वश्री नागार्जुन, दामोदर प्रसाद अम्बष्ठ (चित्राकार) कवि रवीन्द्र राजहंस, जुगनू शारदेय (पत्रकार), मधुकर सिंह आदि। अनशन वाले दिन से ही रेणुजी के निर्देश पर हर रोज नुक्कड़ कवि गोष्ठी का कार्यक्रम चलने लगा। होता यह था कि हर संध्या पहले

किसी व्यस्त नुक्कड़ चौराहे पर युवा चित्राकारों द्वारा तात्कालिक स्थितियों और सरकारी दमन के दृश्यों का चित्रांकन कर लटका दिया जाता, जिसको देखने के लिए समूहों में लोग खड़े हो जाते फिर एकत्रित कवियों द्वारा नृक्कड़ काव्य पाठ होता। कवियों में गोपीवल्लभ सहाय, परेश सिन्हा, बाबूलाल मधुकर, रवीन्द्र राजहंस, रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ' बालेश्वर विद्रोही, वाल्मीकि प्रसाद विकट, रॉबिन शॉ पुष्प और सत्यनारायण आदि-आदि होते। चित्राकारों में अरुण मिश्र सदैव तत्पर रहते। साथ में रेणुजी, डॉ. रामवचन राय, जुगनु शारदेय, वासुदेव शाह आदि सैदव उपस्थित रहते। कभी-कभी स्किट भी प्रस्तुत किया जाता जिसमें सतीश आनंद भी हिस्सा लेते। वहीं पर कार्यक्रम के बाद गमछे में चंदा एकत्रित किया जाता- उस दिन के खर्च की घोषणा होती और जो शेष छोटी राशि बचती उसका भी हिसाब घोषित होता। उसके साथ ही दूसरे दिन शाम को नुक्कड़ गोष्ठी का स्थान सूचित कर दिया जाता। इस प्रकार प्रत्येक दिन नुक्कड़ काव्य पाठ चलता रहता। इसमें जनता की भागीदारी इस हद तक रही कि हम नुक्कड़ कवियों को देखते ही लोग हमारी कविताओं की पंक्तियां दोहराने लगते।''

परेशजी की यह नुक्कड़ कविता खूब चर्चित हुई-

''खेल भाई खेल, खेल भाई खेल
कैसा गजब यह सत्ता का खेल।
बेटे को हाथ लगा कार कारखाना
पोसपुत के हाथ आई भारत की रेल।
माताजी खेल रहीं कुर्सी का खेल
खेल भाई खेल सत्ता का खेल।

परेश जी एक ओर आंदोलन में सक्रिय थे तो दूसरी ओर श्रमसंघ गतिविधियों में भी शामिल थे। 1975 की रेल हड़ताल में उन्हें जेल जाना पड़ा। वे पटना के फुलवारी शरीफ कैम्प जेल में रहें। छूटे तो आपातकाल का समय था। उन्हें फौरन भूमिगत होना पड़ा। इस दौरान वे जगह-जगह घूमते रहे और बम्बई में खासा वक्त बिताया। इसी दौर में उनकी कमलेश्वर से नजदीकी हुई और संभवत: उनका सहयोग भी प्राप्त हुआ। जबकि कमलेश्वर की लाईन एकदम अलग, बल्कि उल्टी थी। कवि गोपीवल्लभ सहाय उनके घनिष्ठ मित्र थे। परेश जी गोपीवल्लभजी के निधन के बाद उनकी पुण्यतिथि पर साहित्यिक आयोजन करते थे। कई वर्षों तक यह क्रम चला, बाद में स्वास्थ्य गिरने लगा तो यह क्रम भंग हुआ।

परेशजी उन्माद की राजनीति से व्यथित रहते थे और करुणा पर आधरित क्रांति की कल्पना करते थे। नब्बे के दशक में हुए सत्ता परिवर्तन से उन्हें बहुत उम्मीदें थी लेकिन उन्हें गहरा धक्का लगा जब जातीय उन्मादियों ने स्वयं उनके आवास को भी चिह्नित किया था। शायद तभी उनमें यह स्वीकार जगा - 'राजा तो राजा ही होगा, राजवंश का हो न हो/ प्रजा दलित शोषित ही होगी, राज कंस का हो ना हो---'

परेशजी का जन्म सन् 1937 में पटना जिले के सिंगरियामां गांव में हुआ था - ननिहाल में। जब वे बहुत छोटे थे तभी पिता का साया उठ गया और ननिहाल में ही पालन-पोषण हुआ। पटना में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई और साहित्य, रंगकर्म और राजनीति से यहीं उनका जुड़ाव बना। उन्होंने रेलवे की नौकरी की और लेखाधिकारी के पद से सेवानिवृत्त हुए। उन्हें पहले अपने युवा पुत्र तथा बाद में लगभग सात-आठ वर्ष पूर्व पत्नी का विछोह भी सहना पड़ा। इन आघातों का उनके शरीर और मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। पिछले कई वर्षों से वे प्राय: घर में ही रहते थे। मैं जब अशोक नगर, कंकड़बाग में रहता था तो उनसे अक्सर मिलना होता रहता था। मोहल्ला छूटा तो मुलाकातें भी कम हो गई। पिछले जाड़े में जनमुक्ति संघर्ष वाहिनी के मित्र चक्रवर्ती अशोक प्रियदर्शी के साथ उनसे मिलने गया था तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं था- 'अरे, मेरे देवता आ गए!' देर तक उनसे बातें होती रही। उनके साथ हमने फोटो भी खिंचाई। बाहर निकले तो घर के बाहर निकलकर वे तब तक हमें हाथ हिलाते रहे जबतक कि हम गली से बाहर नहीं निकल गए। हमारा मन भर आया।

एक-ढेड़ महीना पहले मुकेश प्रत्यूष जी से खबर मिली- परेशजी अस्पताल में हैं। मैं भगवती प्रसाद द्विवेदी के साथ उन्हें रेलवे स्पेशियलिटी अस्पताल में उन्हें देखने गया। वे कष्ट में थे, बेचैन थे। कुछ देर की बातचीत के बाद लेटे-लेटे हाथ जोड़ दिए- 'चलने का वक्त लगता है, आ गया है, गलती-सलती सब माफ कीजिए!' उनके चेहरे पर अभी तेज था, हमने उन्हें भरोसा दिलाया कि वे जल्दी स्वस्थ होकर घर चले जाएगें।

बाद में पता चला, इलाज में गड़बड़ी की वजह से शायद, वे कोमा में चले गए थे। उन्हें दिल्ली ले जाया गया जहां पर गंगाराम अस्पताल में इलाज के दौरान 15 जुलाई, 2015 को उनका निधन हो गया। अपने पीछे वे भरा-पूरा परिवार छोड़ गये हैं। और छोड़ गये हैं अपनी अनेक अप्रकाशित रचनाएं- उपन्यास, कविता संग्रह, लघु नाट्य संग्रह, मगही कविताओं का संकलन आदि।

समाजवादी आंदोलन के एक और पुरोधा चले गए। यह जमीन खाली होती चली जा रही है, नये लोग आ नहीं रहे, पुराने एक-एक कर चले जा रहे हैं। परेश सिन्हा जैसी बहुमुखी प्रतिभा एवं प्रतिबद्धता का विरल योग अब अतीत हो गया। यह रिक्ति कभी भर नहीं सकती। उनकी स्मृति का प्रणाम्।

औपनिवेशिक लूट का अंधकूप

संजय गौतम

'अंधकूप' पोलिश मूल के अंग्रेजी भाषी लेखक जोसेफ कोनराड के प्रसिद्ध उपन्यास 'हार्ट ऑफ डार्कनेस' का हिंदी अनुवाद है। अनुवाद किया है चर्चित कवि लेखक लाल्टू ने।

जोसेफ लोदोर कोनराड कोर्जेनिवोस्की का जन्म 1857 में यूक्रेन में हुआ था। कोनराड के पिता भी कवि एवं अनुवादक थे। इन्हें राष्ट्रदोह के आरोप में गिरफ्तार कर निष्कासन भी किया गया । कोनराड ने माता-पिता के साथ यात्राएं कीं। आठ साल में ही माँ की मृत्यु हो गई। वह 1886 में ब्रिटेन के नागरिक बने और परीक्षाएं पास कीं। उन्होने अंग्रेजी भाषा में अपने उपन्यास, कहानियां और वैचारिक लेख लिखे, लेकिन अपने को पोलिश ही मानते रहे। उनकी भाषा पर फ्रेंच एवं पोलिश का प्रभाव बना रहा। उन्होंने समुद्री नाविक के रुप में काम किया था। इस जीवन के अनुभवों का उन्होंने अपने कथा साहित्य में भरपूर उपयोग किया।

यह उपन्यास मूलत: औपनिवेशिक प्रवृत्ति, लालच, लूट और आदिम जातियों के साथ संघर्ष की कहानी है। उपन्यास का 'मैं' अपनी मौसी की सिफारिश पर नाविक की नौकरी प्राप्त करता है और इसी यात्रा के दौरान 'मैं' शैली में किनारे स्थित जंगल के जीवन, वहाँ के लोगों के स्वभाव, उनके प्रति गोरे लोगों के भाव को व्यक्त करता है। उन्नीसवीं सदी के अंत में भी अफ्रीकी देशों के सुदुरतम क्षेत्र से संपदा की लूट चालू थी। कंपनियों के जहाज जाते थे और प्राकृतिक संपदा लेकर आते थे। 'हाथी दाँत' की लूट जबरदस्त हो रही थी। इस लूट के बावजूद वहाँ के निवासियों को 'सभ्य' बनाने का भ्रम भी था और विरोध होने पर गोली मारने का उत्साह भी था। कुर्त्ज ऐसा ही पात्र है, जो कंपनी के कार्य में अत्यंत कुशल एवं सभी का आदर्श है। अंतत: वह मर जाता है। उसके साथ कई किवदंतिया चलती रहती हैं। उसे लाया जाता है। कई लोग उसके ऊपर अपना दावा करते हैं। उसी क्रम में उसकी प्रेमिका के जरिये उसके प्रेम का भी उद्घाटन उपन्यास में होता है।

पूरे उपन्यास में लूट की मानसिकता, हिंसा की प्रवृत्ति की गहरी छाया है, साथ ही प्रतिरोध का आदिम तरीका भी। रंगभेदी मानसिकता को व्यक्त करने के लिए ही लेखक ने अपने पूर्व कप्तान के बारे में यह लिखा है, 'आखिरकार शायद उसे यह जरुरत महसूस हुई होगी कि किसी तरह अपना आत्मसम्मान प्रकट करे। इसलिए उसने बूढ़े निगर को उसके अपने तमाम लोगों की स्तब्ध आँखों के सामने बेरहमी से पीटा, जब तक कि बुढ्ढे की चीत्कार सुनकर एक बंदे से रहा न गया। मैंने सुना कि वह मुखिया का बेटा था। उसने आजमाइशी तौर पर गोरे पर बर्छी की चोट की- और वह तो कंधो को चीरती आसानी से धंस ही गई। उसके बाद सारे लोग इस डर से कि अब भयानक घटनाएं हो सकती हैं, जंगलों में भाग गए।' (पृ. 24) दूसरी ओर कप्तान के अधीनस्थ भी घबड़ा कर भाग गए। यहाँ तक कि कप्तान को संभालने वाला भी कोई नहीं रहा। उपन्यास के 'मैं' के पहुँचने पर लाश पर घास उगी पाई गई। टिप्पणी उल्लेखनीय है, 'वे लोग समुद्रों के पार साम्राज्य बनाने और व्यापार से बेइंतहा धन कमाने चले थे।'- (पृ. 25) लोगों के दिमाग में 'सभ्य बनाने का भ्रम किस कदर पैठ गया था, यह कार्यभार संभालने से पूर्व ही एक महिला के साथ बात-चीत से पता चलता है,' 'वह मुझे समझाती रही कि उन करोड़ों अज्ञानी लोगों को उनके जघन्य तौर तरीकों से निकालना है। मैंने संकेत करने की हिम्मत की कि कंपनी तो मुनाफा कमाने में लगी है।'

उपन्यास के अंत तक यह स्पष्ट हो जाता है कि सारा उद्यम सिर्फ हाथी दाँत इकट्ठा करने के लिए है। जो जितना ज्यादा हाथी दाँत भेजता है, वह उतना ही निपुण और महत्वपूर्ण माना जाता है। इस लिहाज से आदर्श है। वह अपने काम में अत्यंत कुशल है। अपनी कुशलता के चलते ही वह प्रतीक में बदलता हुआ दिखता है, 'अपने मौलिक रूप में की शुरुआती तालीम इंग्लैण्ड में हुई और जैसा कि वह भले मन से खुद ही कहता था- उसके जज्बात सही जगह पर थे। उसकी माँ आधी अंग्रेज थी और पिता आधा फ्रांसीसी। कुर्त्ज के बनने में समूचे यूरोप की भागीदारी थी। और धीरे-धीरे मुझे पता चला कि 'द इंटरनेशनल सोसायटी फॉर द सप्रेशन ऑफ सैवेज कस्टम्स' (जंगली जीवन को खत्म करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था) ने उसको यह जिम्मेदारी दी थी कि वह भविष्य में काम करने लायक एक रिपोर्ट तैयार करे और उसने वह रिपोर्ट लिखी भी थी। मैंने देखी है। मैंने पढ़ी है। बहुत ही उम्दा लिखा था, भाषा

की कुशलता उसके हर हिस्से में दिखती थी, पर मेरे ख्याल से उस लेखन में तनाव बहुत था। (पृ. 15)

पूरे औपन्यासिक विन्यास में दो बातें साफ होती हैं। एक तो यह कि यूरोप की औद्योगिक सभ्यता ने सूदूरतम क्षेत्रों में प्राकृतिक संपदा की लूट के लिए औपनिवेशिक संरचना का विकास किया। दूसरे अन्य सभ्यताओं को 'असभ्य' मानते हुए उन्हें 'सभ्य बनाने का दंभ' भी पाला। सभ्य बनाने की मुहिम में उसने घुलमिल कर साथ नाचा-गाया भी और अधिकांश मामलों में निर्मम हत्याऐं भी की। यह सब विधिवत अध्ययन करके, रिपोर्ट तैयार करके, लोगों को प्रशिक्षित करके किया गया।

उपन्यास का वाचक मैं भी इन्हीं के बीच का है, लेकिन अपनी संवेदना के कारण वह इन साजिशों को देख पाता है और व्यंग्य भरी भाषा में टिप्पणी भी करता चलता है। वह जंगल के लोगों के प्रति यूरोपीय मनोभाव को विदग्धता के साथ व्यक्त करता है। संभवत: यही कारण है कि उपन्यास लेखक जोसेफ कोनराड को आलोचना का शिकार होना पड़ा। प्रसिद्ध नाइजीरियाई लेखक चिनुआ आर्चबे ने 1975 में लिखे अपने आलेख 'ऐन इमेज ऑफ अफ्रीका: रेसिज्म इन कोनराड्स 'हार्ट ऑफ डार्कनेस' में कोनराड को जन्मजात नस्लवादी कहा। आर्चबे का मत है कि उपन्यास बड़ी कृति नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें मानवता के एक हिस्से से उसका व्यक्तित्व छीनकर अमानवीयकरण को सराहा गया है। वे कोनराड को प्रतिभाशाली और तड़पता हुआ शख्स मानते हैं, जो (अपने चरित्र मार्लो के ज़रिये) अफ्रीका के मूल निवासियों को महज टांगे, कोण-चमकती सफेद आँखों की पुतलियाँ आदि में संकुचित कर देते हैं। साथ ही वह (डरते हुए) उन मूल निवासियों के साथ अपना एक संबंध भी देख पाते हैं।' (पृ. 9-भूमिका)

अनुवादक लाल्टू ने स्वयं आर्चबे के इस मत का खंडन किया है और इस आलोचना की तुलना दलित चिंतकों द्वारा प्रेमचंद की आलोचना से किया है।

उपन्यास का कथा प्रवाह एवं भाषा विन्यास भी जटिल संरचना से युक्त है। कहानी का प्रवाह सरल तरीके से पाठक को अपने प्रवाह में नहीं खींचता है। इसे ही कोनराड की विशेषता के रुप में भी रेखांकित किया गया है। अनुवादक ने टी ई लारेंस का कथन उद्‌धृत किया है- 'गद्य लेखन में उनसे बड़ा तहलका कोई न था। काश कि मैं जान पाता कि वे कैसे हर अनुच्छेद में (वे वाक्य कदाचित ही लिखते, हमेशा अनुच्छेद ही लिखते थे) लहरों की तरह उमड़ना ले आते हैं, जैसे कोई घंटी बजने के बाद ऊँची ध्वनि तरंगे पैदा कर रही हो। उनका लेखन साधाराण गद्य की लय से नहीं, बल्कि उनके दिमाग में चल रहे प्रवाह से बनता है, और चूंकि वह कह नहीं पाते कि वह क्या कहना चाहते हैं, इसलिए उनका लिखा हुआ हर कुछ एक तरह की भूख में, कुछ न कह पाने या न सोच पाने के संकेत में सिमट जाता है, इसलिए उनकी किताबें अपने वास्तविक आकार से बड़ी दिखती हैं। (पृ. 11)

अनुवादक ने इस बात को साफ करते हुए कहा है कि भले ही उस समय कोनराड को जटिल लेखक माना गया और पाठक समुदाय विरक्त रहा, लेकिन समय के साथ घटती हुई घटनाओं से उनके लेखन का महत्व बढ़ता गया और वे भविष्य द्रष्टा लेखक माने गए।

उपन्यास के लेखन के समय को देखा जाए तो निश्चित रुप से यह मानना पड़ेगा कि उपन्यास में औपनिवेशिक लूट की प्रवृत्ति एवं संस्कृति को कोनराड ने बहुत पहले पहचाना। यह संस्कृति आज अनेक रुप से फल-फूल रही है। तमाम नए सिद्धांत गढ़ लिए गए हैं, रिपोर्ट लिखी जा रही है। वर्तमान लूट की संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में इसे पढ़ेंगे तो इस उपन्यास में अनेक छायाभासी संकेत मिलेंगे। हमें लगेगा कि उन्नीसवीं शती से लूट की संस्कृति का यह 'अंधकूप' आज विकास के नाम पर कितने बड़े अंधकूप के रुप में बदलता जा रहा है।

अनुवादक ने उपन्यास के साथ ही कोनराड के कला संबंधी एक वैचारिक लेख को भी दिया है, जिसे उन्होंने अपने उपन्यास 'द निगर ऑफ द नारसिसस' की भूमिका के रुप में लिखा था। इससे कोनराड के कला संबंधी गंभीर दायित्व बोध का पता चलता है (इसका अंतिम पैरा कला-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए आज भी उतना ही प्रासंगिक है, 'धरती पर काम के लिए जुटे हाथों को साँस भर के लिए रोकना, दूरगामी उद्‌देश्य के मोह मे बंधे लोगों को पल भर के लिए चारों ओर फैले रुप-रंग, धूप-छांव की झलक देखने को मजबूर करना, उन्हें एक नजर भर उठाने को, लंबी सांस खींचने को, एक मुस्कान के लिए रुकने को मजबूर करना- यही कठिन और क्षणिक मकसद कला का है और इसे कुछ ही लोग पूरा कर सकते हैं। लेकिन, कभी कभार प्रतिभाशाली और खुशकिस्मत लोग ऐसे काम को भी पूरा कर लेते हैं- और जब पूरा हो जाता है।- क्या बात। जीवन की सारी रचनाइयाँ वहाँ होती है, पल भर की झलक, लंबी साँस, मुस्कान और चिरस्थायी शांति तक वापस पहुँचना।'

अंधकूप, मूल नाम- **हार्ट ऑफ डार्कनेस**, लेखक- **जोसेफ कोनराड**, अनुवादक- **लाल्टू**, प्रकाशक- **वाग्देवी प्रकाशन**, मूल्य- **70 रुपये मात्र**

औद्योगीकरण समता विरोधी है : सच्चिदानन्द सिन्हा

''निराशा के वातावरण में हम काम कर रहे हैं। संसार भर में वामपंथ का पराभव हुआ है। भारत में कम्युनिस्ट पार्टियाँ हाशिए पर चली गयी हैं। 1980 में समता संगठन बना था। जिसके नीति वक्ततव्य में ही उल्लिखित था कि पूँजीवाद और साम्यवाद एक ही बिन्दु पर मिल रहे हैं। मार्क्स की अवधारणा थी कि मुट्ठी भर पूँजीपतियों का ध्रुवीकरण होगा और शेष पूरा सर्वहारा वर्ग रहेगा, गलत साबित हुई है। औद्योगिकीकरण से वन सम्पदा और खनिज सम्पदा का निर्मम दोहन हो रहा है, इससे आदिवासियों और किसानों का बड़े पैमाने पर विस्थापन हो रहा है। तेज औद्योगिकीकरण की बात मुख्यधारा की सभी पार्टियाँ कह और कर रही है। औद्योगिकीकरण से गरीब आदिवासी, किसान और दलित मारे जा रहे हैं। औद्योगिकीकरण से विकास नहीं, विनाश हो रहा है। सबसे बड़ी और मजबूत पूँजीवादी व्यवस्था आज कम्युनिस्ट चीन में है। इंग्लैण्ड की लेबर पार्टी आज कमज़ोर है। हम तो बहुत छोटी पार्टी वाले हैं। बाज़ारवादी औद्योगिकीकरण के खिलाफ़ सजप को आन्दोलन चलाना होगा। इसके लिए हमें अपमानित भी होना होगा। लेकिन निराशा की कोई बात नहीं है। तुरंत सफलता की संभावना नहीं है। नये संकल्प के साथ हमें खड़े होना होगा।''

उपर्युक्त बातें आज सुप्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक, विचारक और लेखक सच्चिदानन्द सिन्हा ने बिहार प्रांतीय समाजवादी जनपरिषद् की कार्यकारिणी की बैठक में कही।

डॉ. संतुभाई संत की अध्यक्षता में हुई बैठक में कई महत्वपूर्ण मुद्दो पर विशद चर्चा हुई। संगठन, सदस्यता, चुनाव और मासिक 'सामयिक वार्ता' पर चर्चा हुई।

बैठक में संगठन को मजबूत करने और आगामी बिहार विधानसभा चुनाव पर विस्तार से चर्चा हुई। तय हुआ कि प्रतीक के तौर पर कुछ विधान सभा क्षेत्रों में चुनाव लड़ा जाए। सामयिक वार्ता की ग्राहकी बढ़ाने का आह्वान भी किया गया।

बैठक में अमरेन्द्र श्रीवास्तव, जगत नारायण, सरयू प्रसाद, दीनानाथ 'दीन', सोमनाथ यादव, नरेन्द्र कुमार, राधेश्याम, रामजय प्रताप, अरुण पार्टनर, वेदप्रकाश आर्य, सुधांशु, संजय राव व सुप्रिया ने भी अपने विचार रखे।

बैठक में राष्ट्रीय संगठन मंत्री अफलातून ने विशिष्ट अतिथि के तौर पर अपना वक्तव्य दिया। अफलातून ने कहा कि नरेन्द्र मोदी की नीतियों का विरोध लालू-नीतिश नहीं कर रहे हैं। भारत उन्ही देशों को कर्ज दे रहा है जहाँ-जहाँ अडानी के प्रोजेक्ट लग रहे हैं। प्रधानमंत्री जन-धन योजना के तहत 15.000 करोड़ रुपये जमा हुए और 6.000 करोड़ रुपये का कर्ज अडानी को आस्ट्रेलिया में प्रोजेक्ट लगाने के लिए दिए गए। खेती-किसानी को खत्म करने की साजिश है। मात्रात्मक प्रतिबन्ध भी खत्म कर दिया गया है। दीनानाथ दीन के वक्तव्य को विस्तार देते हुए अफलातून ने कहा कि साइकिल टैक्स के खिलाफ आंदोलन पुरजोर तरीके से चलाया जा सकता है।

अंत में पिछले दिनों प्रो. अरुण कुमार सिन्हा की मृत्यु पर गहरा शोक व्यक्त करते हुए दो मिनट का मौन रखा गया। पूर्व विधायक अरुण जी जब विधायक थे तो उनके निवास पर ही संगठन का कार्यालय था और 1978 में युवा जनता का स्थापना सम्मेलन उन्होंने बेगुसराय में आयोजित कराने में बड़ी भूमिका अदा की थी। सामयिक वार्ता के भी वह सुधी पाठक थे।

नरेन्द्र कुमार

महामंत्री, समाजवादी जनपरिषद, बिहार

मत – विमत

पूरा ही अंक (सामयिक वार्ता,मई–जून,2015) अच्छा था। परंतु 'कब्र खोदकर नींव रखने की आर्थिक रणनीति' लेख में प्रधानमंत्री द्वारा छोटे उद्योगों के विकास के लिए दिए गए भाषण और उनके अवसर सीमित करने जैसे दोहरी चालो को समझने का मौका मिला। इसके साथ ही केंद्रीकृत उद्योग व विकेंद्रीकृत उद्योग में एक डाटा आधारित तुलना भी जानने को मिलती तो स्थिति बहुत साफ होती। मेरे जैसे विद्यार्थी के लिए ये समस्या है कि आरंभिक निवेश, उत्पादन का स्तर, रोजगार की संख्या व आय की कोई स्पष्ट तुलनात्मक जानकारी का अभाव है। ऐसा लगता है कि विकेंद्रीकरण को समर्थन केवल अंतरात्मा के बल पर हो जा रहा है। एक लेख और जो बहुत अच्छा लगा वो है सच्चिदानंद जी का। उन्होंने अपने लेख में भारी उद्योग आधारित औद्योगिकीकरण को असफल कहा। उद्योगो के विकेंद्रीकरण की चर्चा के बीच माओ के 'घर के पीछे भट्ठी' वाले प्रयोग पर भी कुछ बताएं।

शशिकांत शांडिल्य, लातेहर, झारखण्ड

दस्तावेज

राज्यवाद और साम्राज्यवाद

धनपत राय

(18 मार्च 1928 के 'स्वदेश' में, प्रेमचंद का लेख।)

पुराना जमाना राज्यवाद का था, यह जमाना साम्राज्यवाद का है। उन दिनों कोई योद्धा अपने बाहुबल का परिचय देने के लिए अथवा विजय-लालसा से, अथवा अपने धर्म का प्रचार करने के लिए किसी देश पर हमला करता था विजय पाते ही उसकी इच्छा पूरी हो जाती थी। या तो विजित देश के राजा के केवल हार मान लेने पर राजा बना देता था या कुछ कर लेकर छोड़ देता था। अगर धर्म-प्रचार ही उद्देश्य होता था तो विजित देश विजयी का धर्म स्वीकार कर लेने के बाद फिर स्वाधीन हो जाता था। उसके माथे पर इस हार से, अनन्त काल तक के लिए कलंक न लगता था। जब आदमी में पराक्रम का उदय होता है तो उसे स्वभावत: किसी के सामने ताल ठोंकने की उमंग होती है। यह सर्वथा क्षम्य है। नहीं, हम तो इसे सराहनीय कहेंगे। जो बलवान हो उसे निर्बल पर राज्य करने का खुदा के घर से अधिकार मिला हुआ है। पराधीनता ही निर्बलता का दण्ड है। यही सोच कर, उन दिनों, प्रत्येक जाति बल का संचय करती थी, किले बनाती थी, खाइयाँ खोदती थी। मगर मैदान में हार कर किसी का जो अपमान होता है, वही विजित जातियों के लिए काफी समझा जाता था। दस-पाँच साल के बाद विजेता और विजित में कोई अन्तर, कोई भेद, न रहता था।

मगर यह साम्राज्यवाद का जमाना है। आजकल अपनी वीरता का परिचय देने के लिए कोई किसी पर आक्रमण नहीं करता। वीरता तो इस जमाने में लोप हो गई। अब केवल निर्बल जातियों का खून चूसने के लिए बलवान जातियों का संघटन होता है। यह उमंग अब राजा के दिल में नहीं होती, व्यापारियों के दिल में होती है। व्यापारियों का दिल अपनी चीजों की निकासी के लिए ऐसा बाज़ार तलाश करता है जहाँ उसे मनमाना दाम मिल सके। फिर धीरे-धीरे यह उस बाज़ार को इस तरह अपने हाथ में करना चाहता है कि अनन्त तक उस पर उसका अधिकार बना रहे। व्यापारियों द्वारा जो धन देश में आता है उसमें देश के मजदूरों का भी हिस्सा होता ही है। कोई चीज मजदूरों के बिना तो बन ही नही सकती और आजकल मजदूरों का संघटन इतना सुन्दर हो गया है कि उनकी सम्मति के बिना कोई राष्ट्र कुछ कर ही नही सकता। ये मजदूर लोग अपने देश में तो किसी तरह अन्याय नही सह सकते, लेकिन जब अपने व्यापारियों के हित की रक्षा का प्रश्न आता है तो यह उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का विचार नहीं करते, व्यापारियों की सहायता करने को आमादा हो जाते है। उन्हें भी तो रहने को सुन्दर घर चाहिए, खाने को पौष्टिक भोजन चाहिए, सिनेमा थियेटर सभी उनके लिए जरूरी हैं और, यह सुख तभी प्राप्त हो सकते हैं जब देश के व्यापारियों का माल बराबर खपता रहे। इस लिए अब किसी निर्बल राष्ट्र पर प्रभुत्व जमाये रहना व्यापारियों के लिए उतना ही जरूरी है जितना मजदूरों के लिए। और देश में दो ही वर्गों के मनुष्य होते हैं-व्यापारी या मजदूर। जमींदार व्यापारियों के अ़न्र्तगत हैं और किसान मजदूरों के। इस भाँति अब किसी पराधीन जाति पर अपना प्रभुत्व जमाये रहने में केवल राजा का नही, केवल व्यापारियों का भी नहीं, बल्कि समस्त जाति का हित सम्मिलित होता है, और समस्त जाति सामुदायिक रूप से राज्य करती है। पुराने जमाने में एक व्यक्ति का राज्य होता था। वही बारात का दूल्हा होता था। आज बारात के सभी नाई-ठाकुर दूल्हे हैं। तातारियों और मुगलों के जमाने में किसी बेहने, भिश्ती या भंगी को कभी स्वप्न में यह बात न सूझती थी कि वह किसी दूसरी जाति पर राज्य करता है। आज फ्रांस, बेलजिएम या इंग्लैण्ड का एक साधारण कोयला खोदने वाला मजदूर भी समझता और जानता है कि वह भी अमुक निर्बल जाति पर राज्य करता है। पुराने जमाने का राजा खुश भी हो सकता था, बिगड़ भी सकता था। व्यक्तिगत भावों और विचारों के आधीन ही उसके सब काम होते थे। मगर एक जाति को खुश करना उससे कहीं मुश्किल है जितना उसको नाराज़ करना। सामुदायिक मनोवृत्ति ही ऐसी है। व्यक्तिगत रूप से हम जो काम करने का ख्याल भी दिल में नहीं ला सकते, सामूहिक रूप से हम उसे करने में संकोच नहीं करते। एक व्यक्ति आदर्शवादी हो सकता है, स्वार्थ को छोड़ सकता है, लेकिन एक पूरा राष्ट्र आदर्शवादी नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि एक राजा को भारत की दुर्दशा देखकर दया आ जाय, लेकिन यह असम्भव है कि सारी ब्रिटिश जाति दया और न्याय की वेदी पर अपने स्वार्थ का बलिदान कर सके। एक समय था जब साम्यवाद निर्बल राष्ट्रों को आशा से आन्दोलित कर देता था। सारे संसार में जब प्रजावाद की प्रधानता हो जायगी, फिर दु:ख या पराधीनता या सामाजिक विषमता का कहीं नाम भी न रहेगा। साम्यवाद से ऐसी ही लम्बी-चौड़ी आशायें बाँधी गई थीं। मगर अनुभव यह हो रहा है कि साम्यवाद केवल पूँजीपतियों पर मजदूरों की विजय का आन्दोलन है, न्याय के अन्याय पर, सत्य के मिथ्या पर, विजय पाने का नाम नहीं। वह सारी विषमता, सारा अन्याय, सारी स्वार्थपरता जो पूँजीवाद के नाम से प्रसिद्ध है, साम्यवाद के रूप में आकर अणुमात्र भी कम नहीं होती, बल्कि उससे और भी भयंकर हो जाने की सम्भावना है। लार्ड ओलिवियर, मि. रामजे मैकडोनेल्ड आदि सब समष्टिवादी हैं। जब इंग्लैण्ड में मजदूर दल ने विजय पाई थी हमारे दिल में हर्ष और गर्व की कैसी गुदगुदियाँ उठी थीं, लेकिन अफ़सोस, लार्ड ओलिवियर महोदय ही ने निरपराध भारतीय युवकों को नज़रबन्द किये जाने का कानून स्वीकार किया और आज मि. मैकडोनेल्ड को हम उनके असली रूप में देख रहे हैं। पुराने राज्यवाद में प्रभुत्व का नशा केवल एक व्यक्ति का होता था। साम्राज्यवाद में यह नशा समस्त जाति को हो जाता है, फिर वह जो कुछ न करे, वह थोड़ा है। पश्चिम की सारी विभूति, सारा ज्ञान-विज्ञान, सारा धर्म और दर्शन, केवल एक शब्द 'स्वार्थ' में आ जाता है और वह 'स्वार्थ' पर न्याय, सत्य, दया, शील, विवेक सब कुछ भेंट कर सकता है।

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं रेनबो प्रिंटर्स, सिद्धगिरीबाग, वाराणसी से मुद्रित